सुखी होने का उपाय

भाग - 8

नेमीचन्द पाटनी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
आत्मनिवेदन	
निर्विकल्पता में आत्मानुभूति	
प्रारंभिक	11
निर्विकल्पता की परिभाषा एवं उत्पत्ति	14
निर्विकल्पता की विधि का दुरुपयोग	19
निर्विकल्प होने का क्रम	23
सरल दिखने वाले कल्पित मार्ग	25
सत्यार्थ पुरुषार्थ से भी अनुभव क्यों नहीं होता ?	28
भूल खोजने का उपाय	30
भूलें खोजने का उपाय	33
भगवान बनने का मार्ग	36
आत्मा में तो विकार ही दिखता है	39
गुण आत्मा में रहते कहाँ हैं ?	41
ध्रुव एवं पर्याय एक ही वस्तु के अंश हैं	42
ध्रुव एवं पर्याय अभेद रहने से मिथ्यात्व का अभाव कैसे होगा ?	44
मिथ्यात्व की श्रृंखला तोड़ने का उपाय	45
लेश्या की मंदता से आत्मोपलब्धि संभव नहीं	46
आत्मोपलब्धि पूर्व की कषाय मंदता	48
यथार्थ पुरुषार्थ की पहचान	50
रुचि कौन से गुण की पर्याय है ?	52
ज्ञानी के मन-वचन-काय के परिणमन	57

विषय	पृष्ठांक
श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की एकता अनिवार्य क्यों ?	62
सम्यग्दर्शन की प्रधानता क्यों ?	65
श्रद्धा से परिणति का गठबंधन क्यों ?	67
आत्मा विकारी कैसे हो जाता है ?	68
सम्यक् मान्यता की श्रृंखला का प्रारम्भ कैसे ?	73
अन्तर्मुखी पुरुषार्थ प्रारम्भ	
अन्तर्मुखी पुरुषार्थ प्रारम्भ होने के पूर्व	77
ज्ञायक की खोज	77
ज्ञायक को ज्ञान गुण की अपेक्षा आती है	80
अनन्तगुणों में से ज्ञान अकेले ज्ञान में एकाग्र कैसे हो ?	85
गुण भेदों में भी अभेदता कैसे ?	87
ज्ञान द्वारा अनन्त गुणों की अभेदता	89
ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय का भेद भी नहीं रहता	91
तात्पर्य	92
निर्विकल्पता के उपाय	
प्रवचनसार गाथा 80 की टीका	93
गाथा 80 की टीका का मर्म	95
निर्विकल्प अनुभव के उपाय	99
टीका के उत्तर चरण का मर्म	100
ग्रन्थातरों में उपाय	104
मार्ग का स्पष्टीकरण	105
निष्कर्ष	115
निश्चय-व्यवहार की संधि	117
प्रायोग्यलब्धि में पुरुषार्थ	
पुरुषार्थ का प्रकार	121

प्रकाशकीय

जैनसमाज में जाने/पहचाने वयोवृद्ध मनीषी विद्वान श्री नेमीचन्दजी पाटनी जहाँ एक ओर राष्ट्रीय स्तर की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के कुशल संचालन में सिद्धहस्त हैं, वहीं आप जिनवाणी का स्वयं रसपान करने और कराने की भावना से भी ओतप्रोत रहते हैं।

ऐसे महान व्यक्तित्व विरले ही देखने को मिलेंगे, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में समर्पित किया है। पाटनीजी उनमें अग्रगण्य हैं।

जिस उम्र में सारा जगत अपने उद्योग धंधों को आगे बढ़ाने में दिन-रात एक करते देखे जाते हैं, उस उम्र में आदरणीय पाटनीजी पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से प्रभावित होकर उस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने हेतु घर-परिवार की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर उद्योग-धंधों की परवाह न करके पूज्य श्री कानजी स्वामीजी के मिशन में सम्मिलित हो गये और अल्प समय में अपने कुशल नेतृत्व द्वारा वहाँ महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया पाटनीजी की तत्त्वज्ञान के प्रति समर्पण की भावना बढ़ती चली गयी। सन् 1964 से – जब से स्व॰ सेठ पूरनचन्दजी गोदीका द्वारा जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन की नींव रखी गयी – तभी से आप इस पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के महामंत्री हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन का वह वट बीज, जो आज एक महान वट वृक्ष के रूप में पल्लवित हो रहा है, उसमें डॉ॰ भारिल्ल के सिवाय पाटनीजी का ही सर्वाधिक योगदान है।

प्रस्तुत प्रकाशन के पूर्व आदरणीय श्री पाटनीजी द्वारा लिखे इसी नाम से सात भागों का प्रकाशन भी हो चुका है। वे कृतियाँ भी इसी तरह से आध्यात्मिक तलस्पर्शी ज्ञान के कोश हैं। यद्यपि हिन्दी भाषा

साहित्य के सौंदर्य की दृष्टि से उक्त पुस्तकें भले ही खरी न उतरें; परन्तु भावों की दृष्टि से जैनदर्शन के मर्म को समझने/समझाने में ये पुस्तकें पूर्ण समर्थ हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन के रूप में प्रकाशित 'सुखी होने का उपाय भाग – 8 नामक कृति में उक्त पुस्तकों के क्रम में ही जैनदर्शन के उन मौलिक विषयों को लिया है; जो उक्त सात भागों के विषय को आगे बढ़ाने में सहायक हैं। इसकी विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण भी अनूठा है, अतः यह भी पठनीय एवं सग्रहणीय है।

इस कृति में निर्विकल्पता की परिभाषा का दुरुपयोग, निर्विकल्प होने का क्रम, भूलें खोजने के उपाय, भगवान बनने का मार्ग आदि विषयों का सरलतम स्पष्टीकरण करते हुए करणलब्धि के उपरान्त निर्विकल्प आत्मानुभूति के परिणामों का परिचय, पक्षातिक्रान्त होकर आत्मदर्शन की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है तथा इस बीच में आनेवाली बाधाओं के निराकरण का उपाय भी स्थान-स्थान पर दर्शाया गया है।

इस कृति के अध्ययन-मनन-चिन्तन से पाठक निःसन्देह आत्मानुभूति की प्रक्रिया से सुपरिचित होंगे तथा लेखक के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से यह प्रेरणा प्राप्त करेंगे कि हम भी उनके समान लौकिक कार्यों को यथासाध्य साधते हुए लोकोत्तर कार्य करें।

इस पुस्तक के सुन्दर मुद्रण के लिए श्री अखिल बंसल धन्यवाद के पात्र हैं। हम उन महानुभावों के भी कृतज्ञ हैं, जिन्होंने प्रस्तुत प्रकाशन को अल्पमूल्य में पहुँचाने हेतु पुस्तक की कीमत कम करने में अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

आप सभी 'सुखी होने का उपाय' जानकर अनन्त सुखी हों और अल्प समय में भव का अभाव करें, इसी आशा और विश्वास के साथ –

मंत्री

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

आत्मनिवेदन

इस पुस्तकमाला का यह आठवाँ भाग है। इसके पूर्व सात भाग प्रकाशित हो चुके हैं, इसका प्रारंभ सन् 1987 में हुआ था। पुस्तकमाला प्रारम्भ करते समय हृदय में ऐसी भावना थी कि मिथ्यात्व के कारण यह जीव अनादिकाल से संसार में भ्रमण करता हुआ दुःखी हो रहा है, अतः मिथ्यादृष्टि जीव को यदि सम्यक्त्व प्राप्त करने का सरल एवं संक्षिप्त मार्ग – पात्रता एवं उसकी विधि प्राप्त हो जावे तो जीव का महान कल्याण हो सकता है। इस कल्याणकारी मंगल भावना ने इस पुस्तकमाला को जन्म दिया। प्रारम्भ में ऐसा अनुमान नहीं था कि यह पुस्तकमाला इतना वृहद् आकार ले लेगी कि जिसकी पूर्ति में आठ भाग निकालने पड़ जायेंगे लेकिन विषय बढ़ता ही गया। अब इस आठवें भाग द्वारा मेरी भावना की पूर्ति होते देखकर मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है। मेरी क्षमता को देखते हुये मुझे स्वयं को आश्चर्य है कि ऐसे गहन, गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण विषय पर यह सांगोपांग रचना कैसे बन सकी ? मुझे न तो संस्कृत अथवा प्राकृत का ज्ञान है और न मुझे हिन्दी साहित्य का ही पर्याप्त ज्ञान है तथा इस विषय को स्पष्ट करने योग्य आगम का अभ्यास भी नहीं है अतः इस रचना का श्रेय मेरी आत्मकल्याण की रुचि के साथ-साथ परम उपकारी पूज्य श्री कानजी स्वामी को है, जिनके परम कल्याणकारी उपदेशों के द्वारा मुझे यथार्थ मार्ग खोज निकालने की दृष्टि प्राप्त हुई। उक्त दृष्टि द्वारा जिनवाणी का अध्ययन करके मेरे उक्त प्रयोजन को सिद्ध करने योग्य विषयों का चयन कर इस पुस्तकमाला में उपयोग कर सका एवं अपनी परिणति में निर्णय करने के लिये भी उपयोग कर सका।

लेखन कार्य प्रारम्भ करने के पश्चात् विषय प्रस्तुत करते समय यह अनुभव हुआ कि उक्त विषयों में बहुत से ऐसे विषय हैं, जिनके स्पष्ट हुए बिना निर्णय में यथार्थता नहीं आ सकती तथा श्रद्धा में दृढ़ता नहीं हो सकती थी। ऐसे विषयों को स्पष्ट करने में विशाल आगम का अध्ययन,

नयों का एवं अपेक्षाओं का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक होता है। मेरी इस कमी की पूर्ति आदरणीय डॉ॰ हुकमचंदजी भारिल्ल के निरंतर निकट संपर्क ने कर दी। जब-जब मुझे उपरोक्त प्रकार की समस्या होती, उनके विशाल ज्ञान के द्वारा मेरी समस्या हल हो जाती और उस विषय पर चिंतन-मनन करने से निर्णीत होकर, वह मेरी श्रद्धा का विषय बन जाता। इसप्रकार मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस पुस्तकमाला का विषय, जिनवाणी के अध्ययन ज्ञानीगुरु के उपदेश एवं निष्तुष-निर्बाध युक्तियों के द्वारा निर्णीत होकर अपने अनुभव द्वारा प्रमाणित होने से निर्दोष है।

इस मार्ग को प्राप्त करने का मूल श्रेय तो मेरी स्वयं की रुचि की उग्रता एवं लगन को है। इस पुस्तकमाला के लेखन कार्य से मुझे मेरी स्वयं की अन्तर्परिणति को बहुत लाभ हुआ है; विषय को स्पष्ट करने की भावना एवं मेरे द्वारा किसी अमार्ग का प्रतिपादन नहीं हो जावे – इस भय ने मुझे गंभीर चिंतन-मनन करके निर्णय करने के लिये बाध्य किया; फलस्वरूप निर्णय में निःशंकता आने से श्रद्धा की दृढ़ता को बहुत बल मिला। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आत्मानुभव अर्थात् आत्मानंद प्राप्त करने का यह एक ही मार्ग है, अन्य नहीं। इसलिए मुझे विश्वास है कि जो आत्मार्थी रुचि एवं लगनपूर्वक इन पुस्तकों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर, चिंतन-मनन द्वारा अभ्यास करेंगे तो उनको भी यथार्थ मार्ग का निर्णय हो सकेगा। तत्पश्चात् अपनी रुचि एवं परिणति को स्वमुखापेक्षी कर उचित पुरुषार्थ करेंगे तो अवश्य-अवश्य आत्मानुभव प्राप्त कर सकेंगे।

मैं स्वयं भी एक दिग्भ्रमित प्राणी था। सुख की खोज में भटकता फिरता था। जिनका समागम किया वे सब ही अपने-अपने कल्पित मार्ग को सच्चा मार्ग बताते थे। लेकिन किसी भी मार्ग में आत्मिक शांति की गंध भी नहीं थी अर्थात् अंश भी नहीं था। इसप्रकार दर-दर की ठोकरें खाते-खाते सन् 1943 में मेरे अपूर्व भाग्य का उदय हुआ और अत्यन्त अपरिचित स्थान ऐसे सोनगढ़ में विराजनेवाले परम उपकारी अध्यात्ममूर्ति

पूज्य श्री कानजी स्वामी का समागम प्राप्त हो गया। उनकी वाणी अमृत तुल्य मधुर, श्रद्धा की दृढ़ता की सूचक वज्र के समान दृढ़ एवं विषय को स्पष्ट करनेवाली अत्यन्त आकर्षक होती थी। उनका एक-एक शब्द वास्तविक सुख एवं शांति का उपाय ऐसी वीतरागता का पोषक होता था। उनके समागम ने मुझे आकर्षित कर लिया। मेरी रुचि इस स्थान को पाकर कृत-कृत्य अनुभव करने लगी और मुझे ज्यादा से ज्यादा समय निकालकर इनका समागम प्राप्त करने के लिये निरंतर प्रेरित करती रही। फलतः जब-जब और जितना-जितना संभव हो सका पूज्य स्वामीजी का समागम प्राप्त करता रहा। इसी के फलस्वरूप इस पुस्तकमाला का जन्म हुआ है।

उक्त रचना का उद्देश्य मात्र मेरी रुचि को प्रोत्साहित करने का एवं उपदेश को व्यवस्थित करके अपने लिये संक्षिप्त व सरल मार्ग निर्णीत कर उसके द्वारा अपनी श्रद्धा को दृढ़ एवं निःशंक बनाने का रहा है; ख्याति लाभ आदि अन्य कोई प्रकार का प्रयोजन नहीं है।

इस पुस्तकमाला में पाठकगणों को साहित्यिक दृष्टि से कमी अनुभव में आवेगी, इसके लिये पाठकगणों से क्षमा चाहता हूँ और निवेदन करता हूँ कि वे भाषा की कमी को गौण करते हुए कथन के अभिप्राय अर्थात् प्रयोजन को मुख्य रखकर अध्ययन करेंगे तो ही वास्तविक लाभ हो सकेगा।

इस पामर प्राणी पर तो परम उपकारी गुरुदेव पूज्य श्री कानजी स्वामी का तीर्थंकर तुल्य उपकार है; उनकी वाणी के द्वारा दृष्टिविष निकलकर यथार्थ दृष्टि प्राप्त हुई। अतः उनका उपकार तो आगामी भवों में भी मेरा आत्मा नहीं भूल सकेगा। उपरोक्त विषय की अस्पष्टता होने पर, स्पष्टीकरण करके सरल कर देने का उपकार भी पू. बहन श्री चंपाबहन का मेरे ऊपर है, वह भी नहीं भुलाया जा सकेगा। उपरोक्त दोनों महानुभाव स्वर्गस्थ हो चुके हैं अतः उन्हें विनयांजलि अर्पित करता हूँ। आदरणीय

डॉ॰ हुकमचंदजी भारिल्ल साहब का भी उपकार नहीं भूल सकता, जिनके स्पष्टीकरणों के द्वारा मार्ग निष्कंटक होकर निर्दोष हो गया और मुझे मार्ग के प्रति निःशंकता प्राप्त हुई। निःशंक निर्णय के बिना, परिणमन तो हो ही नहीं सकता। इस पुस्तक को भी डॉ॰ भारिल्ल ने आद्योपान्त पढ़कर, आगम के आलोक में जो आवश्यक कमियाँ थीं, उनको दूर किया, फलतः भाग–8 विशेष प्रमाणिकता को प्राप्त हो गया।

उपरोक्त सभी संयोगों का समवायीकरण होने से ही यह रचना पूर्णता को प्राप्त हुई है।

इस पुस्तकमाला का लेखन कार्य लगभग 10 वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ था, उस समय यह अनुमान भी नहीं था कि यह पुस्तकमाला मेरे जीवनकाल में पूर्ण भी हो सकेगी; क्योंकि इतने लंबे काल तक आयु की पूर्णता, स्वास्थ्य की अनुकूलता एवं इन सब से भी महत्त्वपूर्ण तो मेरी रुचि की उत्तरोत्तर वृद्धि का बने रहना, अपूर्व उपलब्धि है। इन सब संयोगों का समवायीकरण, मेरे आत्मा के उज्ज्वल भविष्य का सूचक अवश्य है। पूज्य स्वामीजी की यह भावना अवश्य सफल होगी कि "बधा भगवान छै अने बधा भगवान थाओ" अर्थात् "सभी भगवान हैं एवं सभी भगवान बनो"।

इस पुस्तकमाला के मुद्रण कार्य को सुंदर बनाने एवं भाषा की दृष्टि से आवश्यक सुधार करने का कार्य श्री अखिलजी बंसल ने किया है, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तकमाला, मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि बनने की पात्रता एवं सरल व संक्षिप्त मार्ग बतानेवाली पुस्तिका है। रुचि के साथ मनोयोगपूर्वक इनके अध्ययन करने से आत्मार्थी को यथार्थ निर्णय प्राप्त होगा तथा यदि परिणति को तदनुकूल परिणमावेंगे तो आत्मानुभव की प्राप्ति अवश्य होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसलिए सभी आत्मार्थी यथार्थ मार्ग प्राप्त कर, मिथ्यात्व का अभाव कर, सम्यक्त्व प्राप्त करें। इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।–

– नेमीचंद पाटनी

सुखी होने का उपाय

भाग – ८

निर्विकल्पता में आत्मानुभूति

प्रारंभिक

इस पुस्तकमाला के भाग - 7 का विषय था प्रायोग्यलब्धि। लेकिन आत्मानुभव तो करणलब्धि पार करने के बाद निर्विकल्प दशा में ही होता है। अतः वर्तमान भाग - 8 का विषय है करणलब्धि को पार करते हुए निर्विकल्पता प्राप्तकर, आत्मानुभूति प्राप्त करनेवाले परिणामों का यथासंभव ज्ञान कराना। आत्मा की यह दशा वास्तव में छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं होती, मात्र केवलीगम्य ही है। इसलिए बुद्धि में आने योग्य विवेचन तो संभव हो नहीं सकता। लेकिन आगम एवं अनुभव के आधार से उक्त अन्तर्दशा का मात्र अनुमान कराया जा सकता है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखते हुवे भाग - 8 का विषय होगा।

देशनालब्धि के परिणामों में, क्रमशः स्वमुखापेक्षी बढ़ती हुई रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता (गर्भित शुद्धता) वर्तते हुए भी, समझने एवं निर्णय करने संबंधी विकल्पों की बाहुल्यता वर्तती रहती है और ज्ञान विकल्पात्मक रहते हुए बहिर्लक्ष्यी बना रहता है। रुचि एवं परिणति इतनी बलिष्ठ नहीं हो पाती कि वह ज्ञान को भी स्वलक्ष्यी परिणमा लेवे। रुचि एवं परिणति के साथ आत्मा के सभी गुणों के अंश भी क्रमशः स्वमुखापेक्षी होते हुए परिणमते रहते हैं; यह बात हमेशा सर्वत्र ध्यान में रहना चाहिये, यथा **'रुचि अनुयायी वीर्य'**। तात्पर्य यह है कि रुचि एवं परिणति आंशिक स्वमुखापेक्षी होकर वर्तते हुवे भी ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से देशनालब्धि में

परप्रकाशकज्ञान की मुख्यता पूर्वक उपयोग वर्तता रहता है।

रुचि एवं परिणति की क्रमशः बढ़ती हुई उग्रता और भी बलिष्ठ होती जावे, पर की ओर का आकर्षण और भी ढीला पड़ता जावे, तदनुसार उपयोगात्मक ज्ञान में भी स्व की ओर का आकर्षण प्रारंभ होकर, परप्रकाशक उपयोगात्मक ज्ञान में भी ढीलापन होना प्रारंभ हो जावे; ऐसी अन्तर्दशा होना ही वास्तव में प्रायोग्यलब्धि का प्रारंभ है। इस लब्धि के परिणाम निर्विकल्पक तो हैं नहीं, लेकिन देशनालब्धि जैसे, सविकल्पक भी नहीं होते। विकल्पात्मक होते हुवे भी विकल्पों की पकड़ अर्थात् प्रगाढ़ता में ढीलापन आ जाता है अर्थात् विकल्पों की जाति ही परिवर्तित हो जाती है।

प्रायोग्यलब्धि के काल में रुचि एवं परिणति क्रमशः बढ़ते हुए, एक डिगरी से बढ़ते-बढ़ते नब्बे डिगरी तक पहुँच जाती है, साथ ही सब गुण भी क्रमशः स्व में तन्मय होने की ओर बढ़ते रहतें हैं; पर का आकर्षण क्रमशः घटता जाता है एवं अपने त्रिकालीज्ञायक-अकर्ताध्रुव भाव की ओर का आकर्षण बढ़ता जाता है। फलस्वरूप ज्ञान का भी परलक्ष्यी पना घटते हुवे, स्वलक्ष्यी पना बढ़ता जाता है, तदनुसार विकल्पों की प्रगाढ़ता एवं पकड़ भी क्रमशः ढीली पड़ती हुई नब्बे डिगरी तक घटती जाती है। ऐसी दशा तक पहुँच जाने पर भी आत्मदर्शन नहीं हो पाता। मात्र दस डिगरी की कमीं भी आत्मदर्शन में बाधक बनी रहती है। उपयोगात्मक ज्ञान का विषय यहां तक भी पूर्णतः आत्मलक्ष्यी नहीं हुवा, मात्र दस डिगरी की कमीवाली पर्याय, ज्ञानोपयोग के, विकल्पात्मक बनी रहकर, आत्मदर्शन को रोक लेती है। इस स्थिति पर पहुँचनेवाली आत्मा की परिणति प्रायोग्यलब्धि के परिणाम हैं। आत्मा को उपरोक्त दशा तक पहुँचाने का श्रेय एकमात्र रुचि की उग्रता अर्थात् ध्रुवतत्व ही मैं हूँ– सिद्ध स्वरूपी ही मैं हूँ – ऐसी दृढ़तम श्रद्धा को एवं ज्ञान में ज्ञात

होनेवाले परप्रकाशकज्ञान के विषयों के स्वतंत्र परिणमन की दृढ़तम श्रद्धापूर्वक, परपना हो जाने को है। अकर्तृत्त्व भाव के कारण अत्यन्त माध्यस्थभाव वर्तने लगता है। सबकी ओर से सिमटकर परिणति की स्व-स्वरूप में तन्मय होने योग्य शुद्धता हो जाती है। यही मात्र, संक्षेप में प्रायोग्यलब्धि के परिणामों का परिचय है।

करणलब्धि के परिणाम तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे तो केवलीगम्य ही हैं; करणलब्धि में वर्तनेवाले आत्मार्थी को भी गम्य नहीं हो सकते क्योंकि इस लब्धि को प्राप्त करनेवाले आत्मार्थी की रुचि की उग्रता एवं परिणति की विशुद्धता इतनी उग्र होती है कि उसके आत्मा का सम्पूर्ण पुरुषार्थ, एकमात्र त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में तन्मय होने के सन्मुख वर्त रहा होता है एवं परलक्ष्यी ज्ञान की प्रगाढ़ता एवं पकड़ दस डिगरी मात्र की रह गई होती है एवं पूर्णता प्राप्त करने की ओर इतनी उग्र हो गई होती है कि दस डिगरी की कमी कब समाप्त होकर निर्विकल्प हो गई, वह इसके उपयोग में आ ही नहीं पाता। तात्पर्य यह है कि यह काल इतना अल्प होता है कि वह छद्मस्थ गम्य नहीं होता। छद्मस्थ के उपयोग को एक ज्ञेय छोड़कर अन्य ज्ञेय को जानने में असंख्य समय लगते हैं। तथा आत्मा के उक्त परिणामों का परिणमन तो पर्यायगत है और आत्मार्थी का उपयोग तो पर्याय से व्यावृत्य होकर त्रिकालीध्रुवतत्त्व के सन्मुख हो रहा है अतः करणलब्धि के परिणामों को जानने का उत्साह ही नहीं वर्तता। अतः आत्मार्थी को इन परिणामों को जानने का भाव ही नहीं होता। करणलब्धि का काल अधिक से अधिक हो तो अन्तर्मुहूर्त काल है और पुरुषार्थी को निश्चित रूप से आत्मदर्शन हो जाता है। छद्मस्थ का उपयोग ही असंख्य समय का है अतः कम से कम काल लगे तो असंख्य समय में तो आत्मदर्शन ही हो जाता है। इसी क्रिया को पक्षातिक्रान्त भी कहा जाता है। आत्मदर्शन

के समय उपयोग निर्विकल्प ही होता है; उस समय उपयोग का विषय एकमात्र त्रिकाली ध्रुवतत्त्व ही रहता है, अन्य कोई भी (अपनी ही निर्मल पर्याय भी अथवा गुण विशेष भी) नहीं रहता। उपयोग के सामने विषय दो होने पर तो छद्मस्थ को ज्ञेय परिवर्तन की संभावना होती है, फलतः विकल्प का उत्पादन भी हो जाता है। जब उपयोग के सामने विषय ही एक रह जाता है तो विकल्प की संभावना ही नहीं रहती; फलतः उपयोग निर्विकल्प हो जाता है।

उपरोक्त दशा होते ही **'सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व'** वाला सूत्र सफल हो जाता है; आत्मा के सर्वगुणों को साथ लेकर उपयोग भी अपने स्वामी से सम्मिलन प्राप्त कर, अत्यन्त आनन्दित होकर, ऐसे तन्मय हो जाता है कि सिद्ध भगवान के सादिअनन्त काल तक भोगने वाले आनन्द को ही पुरुषार्थी, निर्विकल्प दशा के काल तक भोगने में निमग्न हो जाता है। इसी दशा को आत्मानुभूति, सम्यक्त्व की प्राप्ति आदि अनेक नामों से बताया जाता है।

इसप्रकार करणलब्धि के परिणामों को प्राप्त करने की विधि का विवेचन इस भाग में होगा।

निर्विकल्पता की परिभाषा एवं उत्पत्ति

निर्विकल्प शब्द ही अपने अर्थ को परिभाषित कर देता है। विकल्प का नहीं होना ही निर्विकल्पता है। विकल्प का अर्थ है विशेषकल्प अर्थात् ज्ञान का विशेष जानने के लिये प्रवर्तित होना वह विकल्प है। संसारी छद्मस्थ को वह जानना राग मिश्रित होता है, अतः प्रस्तुत प्रकरण में विकल्प से निर्विकल्प होने के विषय पर मात्र छद्मस्थ प्राणी की मुख्यता से चर्चा करेंगे एवं समझेंगे; वीतराग दशा के विकल्प की चर्चा को गौण रखेंगें अर्थात् बुद्धिपूर्वक के विकल्पों की मुख्यता से चर्चा रहेगी, अबुद्धिपूर्वक होनेवाले विकल्पों की मुख्यता से

चर्चा नहीं होगी।

विश्व तो अनंतताओं से भरा हुआ है। अर्थात् ज्ञान के जानने के विषय तो स्व के सहित छहों द्रव्य और उनकी समय-समयवर्ती पर्यायें, सभी मिलाकर अनंतानंत ज्ञेय हैं। दूसरी ओर उन सबको जाननेवाला ज्ञानी का ज्ञान एक है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है अर्थात् ज्ञान मात्र एक होते हुए भी वह एक ही समय में स्व एवं पर दोनों को जानने के स्वभाववाला है। ऐसा महान एवं विशाल सामर्थ्य होते हुए भी छद्मस्थ के ज्ञान की इतनी निर्बलता है कि वह एक समय मात्र एक ही ज्ञेय को उपयोगात्मक जान पाता है, अन्य रह जाते हैं। फलतः जब वह स्व को उपयोगात्मक जानेगा तो समस्त पर ज्ञेयों को जो संख्या अपेक्षा अनंतानंत हैं, वे गौण रह जाते हैं। जब पर ज्ञेयों में से किसी एक ज्ञेय को जानेगा तो उसी समय बाकी रहे परज्ञेय तथा स्व जो अकेला एक है, वह गौण रह जाता है।

उपरोक्त स्थिति होते हुये भी अज्ञानी छद्मस्थ आत्मा को स्व की तो जानकारी ही नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान तो मात्र परज्ञेयों के जानने के ही सन्मुख वर्तता रहता है, लेकिन परज्ञेय तो अनंत हैं और वह एक समय में एक को ही जान पाता है, अतः उसको अन्य ज्ञेयों को जानने की इच्छा निरंतर वर्तती रहती है। फलस्वरूप उसका ज्ञान निरंतर ज्ञेयों को परिवर्तन करने में ही व्यस्त रहता है। जानने की इच्छा के कारण रागपूर्वक एक ज्ञेय को छोड़कर, अन्य ज्ञेय को, फिर उसे भी छोड़कर अन्य-अन्य को जानने के लिए भटकता रहता – है इसप्रकार ज्ञान के परिवर्तन करने की प्रक्रिया ही अज्ञान दशा का विकल्प है, ज्ञानी को भी स्व के ज्ञान सहित तीन कषाय संबंधी राग के सद्भाव के कारण ज्ञेय परिवर्तन भी होता है; फलतः विकल्प भी होते हैं। ऐसे विकल्पों का उत्पन्न होना वह विकल्प है और नहीं

होना ही निर्विकल्प है। विकल्प उत्पन्न हो जाने पर उसका अभाव करना ऐसी निर्विकल्पता की परिभाषा नहीं है; क्योंकि उत्पाद और व्यय में समय भेद नहीं होता। जिस विकल्प का उत्पाद हो गया, दूसरे समय तो वह स्वयं ही नहीं रहेगा, उसका व्यय हो ही जावेगा; तो क्या उसको उस समय निर्विकल्प कहा जा सकेगा ? नहीं कहा जा सकेगा।

प्रश्न :– निर्विकल्प क्यों नहीं कहा जा सकता ?

उत्तर :– पहले समय के विकल्प के व्यय के साथ ही दूसरे विकल्प का जन्म हो जाता है, इसलिए उसे निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि अगर दूसरे विकल्प का जन्म नहीं हुआ होता तो उस आत्मा को निर्विकल्प कहा जा सकता था; लेकिन उस आत्मा ने विकल्पों के उत्पाद-व्यय की श्रृंखला को तो एक समय मात्र के लिए भी तोड़ा ही नहीं; फलतः विकल्प का अभाव हो जाने पर भी निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता। वही आत्मा जब आगमोक्त (जिनवाणी में वर्णित) पद्धति को अपनाकर, अपने उपयोग को स्वलक्ष्यी बनाता है तो उस समय एक मात्र स्वज्ञेय ही ज्ञान के सन्मुख रह जाने और अन्य ज्ञेय नहीं रहने से ज्ञेय परिवर्तन रुक जाता है और विकल्प उत्पन्न होने की श्रृंखला टूट जाने से निर्विकल्प हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञेय परिवर्तन से विकल्प की उत्पत्ति होती थी, जब अन्य ज्ञेय ही नहीं रहा तो परिवर्तन नहीं होने से विकल्प उत्पन्न ही नहीं हुआ। अतः वहाँ निर्विकल्पतामय उत्पाद हो जाता है। अज्ञानी को अनंतानंत ज्ञेयों में स्वामित्व एवं कर्तृत्व आदि के अभिप्राय सहित ज्ञेय परिवर्तन होता है अतः उसको अनंतानुबंधी राग सहित के विकल्प होते हैं इसकारण ज्ञेय परिवर्तन की श्रृंखला टूटती नहीं है। लेकिन ज्ञानी हो जाने पर भी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि के राग सहित के विकल्प होते हैं, वे निर्बल होने के कारण तथा परज्ञेयों में

परपने की श्रद्धा होने से श्रृंखला नहीं बनने देते।

अज्ञानी को ज्ञानी बनने में अनंतानुबंधी सम्बन्धी विकल्पों का सर्वप्रथम अभाव होता है। उसके अभाव का जन्म सर्वप्रथम निर्विकल्प अनुभूति में ही होता है। श्रद्धा ने जिस समय अपनापन अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में स्थापन किया तत्समय ही ज्ञान ने उस एक को ही अपना ज्ञेय बनाया, अन्य ज्ञेय उससमय उपयोगात्मक नहीं रहे एवं तत्समय ही चारित्र की पर्याय में अनंतानुबंधी का अभाव होकर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ। इसप्रकार की सम्मिलित दशा जिस समय प्रगट होती है, उससमय ज्ञेय परिवर्तन भी रुक जाता है अर्थात् उतने काल तक मात्र स्वज्ञेय ही ज्ञान में रहता है, अन्य ज्ञेय नहीं रहता; फलतः उस दशा को निर्विकल्प दशा कहा गया है।

इस दशा के उत्पन्न होने का श्रेय अकेले ज्ञान को ही नहीं है, वरन् आत्मा के सम्पूर्ण गुणों की आत्मसन्मुखता को है। श्रद्धा ने जब स्व में अपनापन किया तो श्रद्धा के मुख मोड़ने के साथ ही आत्मा के अनंतगुण भी आत्मसन्मुख हो गये; उन अनंत गुणों में ज्ञान, सुख, वीर्य आदि सभी गुण सम्मिलित रहते हैं। इसी दशा को 'सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व' कहा जाता है। इसलिए ज्ञान भी स्वसन्मुख हो जाने से, ज्ञान की भी पर्याय में स्वप्रकाशकता प्रारंभ हो जाती है।

लेकिन आत्मा का ज्ञान तो स्व-पर-प्रकाशक होने से दोनों को ही जानने के स्वभाववाला है और छद्मस्थ का एक ही ज्ञेय के जानने में उपयोग ज्यादा काल टिक नहीं सकता; फलतः ज्ञानी का उपयोग भी स्व को छोडकर ज्ञेय परिवर्तन कर लेता है। अतः निर्विकल्पता ज्यादा काल नहीं रह सकती। अज्ञानी को अनंत पर ज्ञेयों में अपनेपन की मान्यता होने से उसका उपयोग परज्ञेयों में ही शीघ्र-शीघ्र परिवर्तन करता रहता है। ज्ञानी हो जाने पर सभी पर पदार्थों के प्रति परपना

हो जाने से तथा स्वस्वरूप में अपनापन आ जाने से एवं आत्मा की रुचि स्व में एकाग्र रहने की होने से स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो जाता है। फलतः ज्ञानोपयोग स्व में एकाग्र होने को चेष्टित रहता है। ज्ञानी की ऐसी दशा निरंतर वर्तती रहती है; ऐसी दशा को ही शुद्धपरिणति कहा जाता है एवं ज्ञानधारा भी कहा जाता है। ज्ञानोपयोग पर की ओर भी चला जावे तो भी इस परिणति को कोई क्षति नहीं पहुँचती; फलतः विकल्पात्मक उपयोग वर्तने पर भी श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन तो अक्षुण्ण वर्तता ही रहता है।

समझने योग्य स्थिति यह है कि निर्विकल्पदशा उत्पन्न करने का श्रेय अकेले ज्ञानोपयोग को नहीं है, वरन् आत्मा की पर के प्रति परत्वबुद्धि (उपेक्षाबुद्धि) होकर स्व के प्रति स्वपना-अपनापना (अपेक्षा बुद्धि) उत्पन्न होकर, स्व के प्रति तीव्र आकर्षण एवं रुचि की उग्रता को ही है। अज्ञानी को ज्ञानी बनने के समय सर्वप्रथम आत्मा की रुचि इतनी उग्र होती है कि वह एक बार तो आत्मा के ज्ञानोपयोग को पर से व्यावृत्य कर स्वस्वरूप अकेले को ही ज्ञेय बनाने के लिये बाध्य कर देती है; उससमय उपयोग का अति-अल्प समय मात्र के लिये ज्ञेय परिवर्तन रुक जाता है, उस दशा का नाम ही निर्विकल्प दशा है। निष्कर्ष यह है कि निर्विकल्प दशा प्रगट होने का मूल श्रेय तो स्व में स्वपना उत्पन्न होकर पर ज्ञेय मात्र में परत्वबुद्धि उत्पन्न होना है, निर्विकल्प दशा तो उसका फल है। सम्यग्दर्शन की उत्पादक मात्र निर्विकल्प दशा नहीं है, उपर्युक्त समस्त गुणों की शुद्धता एक साथ प्रगट होती है, वह कारण है। लेकिन आत्मा के अनंतगुणों में अकेला ज्ञानगुण ही स्व-पर प्रकाशक होने से, उसके द्वारा ही आत्मा की प्रगटित दशा का परिचय प्राप्त होता है। अतः ज्ञान ने जब अपने त्रिकालीज्ञायकभाव को उपयोगात्मक ज्ञेय बनाया तो आत्मा को अपनी

दशा का ज्ञान हुवा; फलतः आत्मा के निर्विकल्प उपयोग को सम्पूर्ण दशा का प्रतिनिधित्वपना प्राप्त हो जाने से, उस ज्ञान को सम्यग्दर्शन का उत्पादक कारण तक कह दिया जाता है।

निर्विकल्पता की विधि का दुरुपयोग

जैन कुल में उत्पन्न होकर भी बहुत से अज्ञानी जीव जिनको वास्तव में आत्मा के कल्याण करने की रुचि तो प्रगट हुई नहीं है; संसार देह भोगों में ही जिन्होंने सुख माना है। ऐसा अज्ञानी मैं कौन हूँ, क्या मेरा स्वरूप है, वर्तमान में दुःख क्या है, सुख क्या है व कहाँ है इत्यादि बातों के समझने की तो चेष्टा नहीं करते तथा भोगों में रचे - पचे रहते हुए, धर्मी कहलाने का प्रयास करते हैं। सच्चे पुरुषार्थियों को मात्र बातें करनेवाला एवं प्रेक्टिकल मार्ग नहीं अपनानेवाला मानकर ढोंगी कहकर, अपने को ध्यान का मार्ग अपनाने वाले प्रेक्टिकल धर्म करनेवाला मानते हैं। मानते व कहते भी हैं कि उपरोक्त बातों को समझकर भी तो अपने उपयोग को सब ओर से समेट कर आत्मा में लाना है, अतः समझने समझाने के चक्कर में पड़कर समय बरबाद क्यों किया जाए ? इसलिए समझकर जो करना है, वह हम समझने की मेहनत करें बिना ही तथा विषय भोगों में बाधा डाले बिना ही कर लेगें आदि-आदि। ऐसे अज्ञानी उपयोग को एकाग्र करने के लिए आसन लगाकर, ध्यान लगाकर उपयोग को इधर-उधर भागने से रोक लेने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं व मानते हैं कि इस प्रक्रिया से हमारा उपयोग निर्विकल्प हो जावेगा। ऐसा मानकर निर्विकल्प होने का अभ्यास करते हैं। पत्नी अथवा मित्रों सहित ऐसे शिविरों में अथवा ध्यान के केन्द्रों में जाकर एकान्तवास करके कुछ दिनों के लिए सांसारिक आकुलताओं से दूर रहते हैं। ऐसी चेष्टाएँ सब विपरीत

मान्यता अर्थात् मिथ्या मान्यता का प्रदर्शन है तथा वास्तविक विधि का दुरुपयोग है। जैसे विषयासक्त अज्ञानी जीव अनेक प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं से त्रस्त हो जाता है तो कुछ दिनों के लिए छुट्टी मनाने के लिए सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर पाँचों इन्द्रियों के विषयों के स्वच्छन्दता पूर्वक सेवन में रच-पच कर अपने को सुखी अनुभव करने लगता है। उसीप्रकार उपरोक्त मान्यता युक्त धर्मात्मा कहलानेवाला अज्ञानी, ध्यान के अभ्यास केन्द्रों में जाकर सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति पाने के लिए ध्यान का अभ्यास करते हैं। उनके द्वारा कुछ समय के लिए उपयोग अन्य ज्ञेयों की ओर परिवर्तित हो जाने से सांसारिक चिन्ताओं की तरफ नहीं जाता, अतः क्षणिक शांति को ही आत्मिक शांति मानकर उसे ही ध्यान का फल मानने लगते हैं। इसी को वास्तविक विधि मानकर ऐसी एकाग्रता को ही निर्विकल्पता मानकर, अपने को वास्तविक धर्मात्मा मान लेते हैं एवं वास्तविक धर्मात्माओं को ढोंगी अधर्मात्मा मानते हैं। यह वास्तविक विधि का दुरुपयोग तो है ही और गृहीत मिथ्यात्व दृढ़ करके संसार वृद्धि का कारण भी है।

धर्म की किसी भी क्रिया का फल तो आत्मा के परिणामों में वीतरागता आना चाहिये। वीतरागता शब्द का अर्थ ही आत्मा की परिणति अर्थात् भावों में रागादि का अभाव ही होता है। वीतरागता की पूर्णता में तो अपरिमित शान्ति (अतीन्द्रिय शांति) होती है, वह प्राप्त करना ही साधक जीव का ध्येय होता है। अतः वास्तविक साधना (क्रिया) तो वही हो सकती है, जिसके द्वारा साध्य की प्राप्ति हो अर्थात् आत्मा में आंशिक वीतरागता का उत्पादन करे एवं वृद्धि करनेवाली हो और ऐसी वीतरागता आत्मा के भावों में उत्पन्न होती है, शरीर आदि की क्रियाओं में नहीं।

निष्कर्ष यह है कि अज्ञानी के द्वारा अपनाई गई उपरोक्त प्रकार

से ध्यान लगाकर निर्विकल्पता प्राप्त करने की विधि वास्तविकता से एकदम विपरीत है। जिससे वीतरागता के स्थानपर राग की वृद्धि हो, वह विधि यथार्थ कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती; गृहीत मिथ्यात्व को दृढ़ करती है। वास्तव में तो अपने त्रिकालीज्ञायकध्रुवतत्त्व में अपनापन हो जाने पर तथा जिनमें अभी तक अपनापन माना हुआ था उन समस्त परज्ञेय मात्र में परपना टूट जाने से सहजरूप से अन्तर में अपनी रुचि एवं परिणति उन सबकी ओर से विमुख होकर अपने स्व (अपने घर) की ओर आकृष्ट हो जाती है, तब कर्तृत्वबुद्धि सहित विकल्प करे बिना ही उपयोग भी रुचि एवं परिणति के साथ सहजरूप से अपने स्व से सम्मिलन करने के लिये आकृष्ट हो जाता है। जैसे कोई झगड़े के समय बाहर में गोलियाँ चल रही हों तो घर से दूर व्यक्ति भी अपने घर की ओर ही आकृष्ट होता है और जानता है कि किसी अन्य घर की तरफ जाऊँगा तो इससमय कोई दरवाजा भी नहीं खोलेगा; फलतः अपने घर में ही शरण लेता है। इसीप्रकार आत्मार्थी गुरु उपदेश, जिनवाणी के अध्ययन, सत्समागम आदि से समझकर एवं चिंतन-मनन करके ऐसा निर्णय कर लेता है कि मैं तो त्रिकालीज्ञायक हूँ और परज्ञेय मात्र सब अपने-अपने उत्पाद-व्यय करते हुए अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता के अनुसार क्रमबद्ध अपने-अपने परिणमन में व्यस्त हैं, किसी को भी मेरी ओर झाँकने की भी फुरसत नहीं है। ऐसी स्थिति में मेरा उपयोग उधर गया भी तो वे मुझे घुसने भी अर्थात् कुछ भी हस्तक्षेप करने नहीं देंगे तो मुझे तो धक्के खाकर लौटना ही पड़ेगा। जब सारा जगत अपने-अपने परिणामों को स्वतंत्र रूप से कर रहा है, उसीप्रकार मैं भी तो एक द्रव्य हूँ, मैं भी जानने के कार्य को स्वतंत्र रूप से कर ही रहा हूँ। मेरे जानने का कार्य एक समय मात्र भी रुकता नहीं है और वह कार्य करने में मुझे

किसी ज्ञेय की अथवा किसीप्रकार की पराधीनता भी नहीं है। जानने का कार्य भी उन ज्ञेयों के पास गये बिना अपनी शक्ति और सामर्थ्य से अपने में ही अपनी स्वयं की योग्यतानुसार स्वतंत्र रूप से हो रहा है। अतः जानने के लिए मुझे उनकी ओर झाँकना भी नहीं है। इसलिए अपनी ज्ञान क्रिया को समस्त पर ज्ञेयों से समेटकर, अपने ज्ञायक की ओर सन्मुख कर लूँ तो मुझे मेरे स्व के साथ समस्त परज्ञेयों का ज्ञान भी सहजरूप से स्वतः हो ही जावेगा, क्योंकि उन सबके ज्ञेयाकार भी मेरी ज्ञान पर्याय में विद्यमान हैं। ऐसा निर्णय होने से उनको जानने के लिए मुझे किसी की ओर झाँकना भी नहीं है; ज्ञाता भी मैं, ज्ञान भी मैं तथा ज्ञेय भी मैं – इसप्रकार तीनों अभेद होने से विकल्प उत्पन्न होने का अवकाश भी नहीं रहता।

ऐसे दृढ़तम निर्णय के द्वारा मेरा उपयोग अशरण होकर, एकमात्र अपने स्व घर की शरण लेता है तो उपयोग अपने ज्ञायक स्वभाव की शरण पाकर निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता बन जाता है। यह ही आत्मा के निर्विकल्प होने की वास्तविक विधि है।

आत्मा तो अकर्ता-ज्ञायक स्वभावी है, उपयोग को अपनी ओर लाने का कर्तृत्व भी आत्मा में नहीं है, उपयोग को ज्ञायक की शरण लेनी हो तो वह आवे, आत्मा को तो न तो उसको बुलाना है और न लाना है। ऐसे अकाट्य निःशंक निर्णय से रुचि एवं परिणति अतीन्द्रिय शांति प्राप्त करने के लिये उपयोग के साथ स्व में एकाग्र होकर सुखी हो जाती है। यही है **'एकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम्।'** शरीर तथा मन-वचन की कोई भी क्रिया आत्मा के उपयोग को स्वलक्ष्यी नहीं बना सकती, क्योंकि आत्मा में उन सबका तो अत्यन्ताभाव है।

उपरोक्त वास्तविक स्थिति समझकर, वास्तविक मार्ग अपनाना ही आत्मार्थी का कर्तव्य है।

निर्विकल्प होने का क्रम

निर्विकल्प दशा तक पहुँचने के पूर्व आत्मार्थी की अन्तर्परिणति में विकास किसप्रकार होता है ? यह जानना आवश्यक है; क्योंकि यथार्थ निष्ठा के द्वारा आत्मार्थी पुरुषार्थ करता है, तो भी जब उसे निर्विकल्प दशा प्राप्त नहीं होती; तब आत्मार्थी दिग्मूढ़ होकर हताश हो जाता है। ऐसी स्थिति में अगर क्रमिक विकास की स्थिति उसकी समझ में आ जावे तो अपनी कमी को पकड़कर भूल को सुधारकर, यथार्थ मार्ग ग्रहण कर, सफलता प्राप्त कर सकेगा।

जैन धर्म का मूल सिद्धान्त सदैव एवं सर्वत्र आत्मार्थी की श्रद्धा-ज्ञान में जाग्रत रहना चाहिये कि जैनधर्म तो अकर्तावादी है। आत्मा जानता सबको है, लेकिन कर्ता किसी का भी नहीं है। आत्मा जाने बिना तो रह सकता नहीं, लेकिन किसी का कुछ भी कर सकता भी नहीं। तात्पर्य यह है कि उपरोक्त सिद्धान्त निर्विकल्पदशा प्रगट करने के पुरुषार्थ में भी सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्यतया अज्ञानी जनों में ऐसी मान्यता चलती है कि कुछ करने का नाम ही वास्तविक पुरुषार्थ है; लेकिन मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ तो इससे विपरीत है; जो होता है उसे स्व के साथ सहजरूप से जान लेना मात्र ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है। करना तो मोक्षमार्ग में मरने के समान है। नहीं कर सकना मानना ही यथार्थ पुरुषार्थ है। अतः निर्विकल्पता प्रगट करना है, ऐसी मान्यता के द्वारा निर्विकल्पदशा कभी प्रगट नहीं हो सकती। निर्विकल्पदशा तो पर्याय है, वह तो अपने स्वकाल में उत्पन्न होगी, जन्मकाल के पहले आत्मा उसको कैसे और कहाँ से पकड़कर लावेगा ? लेकिन मैं तो नित्य स्वभावी तत्त्व हूँ, पर्याय को सुख चाहिये तो वह मेरी शरण लेवे, वह अनित्य स्वभावी है उसको ही पलटना है। आत्मा का ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है; लेकिन छद्मस्थ आत्मार्थी का ज्ञान

दोनों में से एक को ही एक समय उपयोगात्मक जान पाता है। अनादि से अज्ञानी पर को ही स्व मानता चला आ रहा है फलतः पर के साथ ही प्रेम वर्तता रहा है, अतः उसके परिणमनों को निज मानने के कारण उन के ही जानने में उपयोग भी संलग्न रहता चला आ रहा है, लेकिन ज्ञेय अनन्त होने से उपयोग भी निरन्तर शीघ्र-शीघ्र ज्ञेयों को परिवर्तन करता रहता है; फलतः इसका उपयोग कभी निर्विकल्प हो ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि जब तक अर्न्तपरिणति में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक उपयोग किसी भी प्रकार से निर्विकल्प नहीं हो सकेगा। किञ्चित् मात्र भी कमी होने पर उसी में उपयोग अटक कर बाहर रह जावेगा अर्थात् परलक्ष्यी ही बना रह जावेगा। परलक्ष्यी उपयोग कभी भी निर्विकल्प नहीं हो सकता। अतः अज्ञानी कितनी भी प्रकार का अन्यथा पुरुषार्थ करे, निर्विकल्प दशा प्राप्त नहा हो सकती; फलतः सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होगा और मोक्षमार्ग प्रारंभ नहीं होने से परमसुख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

उपरोक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिये, भगवान महावीर की दिव्यध्वनि द्वारा जो यथार्थ मार्ग प्रगट हुआ और परंपरा से पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित होकर अभी जिनवाणी द्वारा प्राप्त है, उसके अनुसार जो यथार्थ मार्ग है, उसीपर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास करके यथार्थ मानकर अपनाने का प्रयास करना चाहिये। अज्ञानियों के द्वारा अनेकप्रकार से कल्पित किये गये मार्गों के आकर्षणों से द्रढता के साथ बचते रहना चाहिये। अपनी अन्तर्परिणति में वीतरागता उत्पन्न हुये बिना अर्थात् अपने त्रिकाली ज्ञायक में अपनापन उत्पन्न होकर, अन्य ज्ञेय मात्र के प्रति परपना आकर, आकर्षण का केन्द्रबिन्दु एक मात्र ध्रुवतत्त्व बन जाना चाहिये। ज्ञेयमात्र से आकर्षण टूटकर, उपेक्षा बुद्धि पूर्वक, सबकी ओर से

सिमटकर अन्तर्परिणति का, आत्मा की ओर एकत्व करने की चेष्टा होना ही वास्तविक वीतरागता का प्रारंभ है। ऐसी दशा उत्पन्न होते ही मिथ्यात्व का रस भी क्षीण होने लगता है एवं परिणति भी अनन्त परज्ञेयों की ओर से सिमटकर आत्मसन्मुख होने को प्रेरित होती है, यही अनन्तानुबन्धी की भी क्षीणता का द्योतक है। ऐसी दशा उत्पन्न कराने का मार्ग ही एकमात्र सत्यार्थ एवं वास्तविक मार्ग है।

उपरोक्त मार्ग समझने के लिये अपनी बुद्धि को सब ओर से समेटकर, उक्त मार्ग में लगाना आवश्यक है। रुचि को संसार, देह, भोगादि की ओर जाने से मोड़कर आत्मा की ओर आकर्षित करना होता है। लेकिन पाँचों इन्द्रियों के भोगों में आसक्त पुरुषों को उनमें कमी करना कठिन लगता है। अतः ऐसे अज्ञानियों को आकर्षित करने के लिये, मिथ्यामार्गियों ने अनेक प्रकार की मिथ्याकल्पनाऐं करके जैनधर्म के नाम पर ही अनेक मार्ग विकसित कर लिये हैं एवं उनका खूब जोरशोर से प्रचार भी करते हैं। भोले अज्ञानी प्राणी सरलमार्ग समझकर ऐसे मार्गों में धर्म के नाम पर फँस जाते हैं और अपने को धर्मात्मा मानते हुवे अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और अनन्त संसार बढ़ाते रहते हैं।

सरल दिखनेवाले कल्पित मार्ग

जिनवाणी में बताये गये उपरोक्त प्रकार के मार्ग के कथन को सुनकर और वास्तविक अभिप्राय नहीं समझकर अज्ञानीजन अपनी परिणति में वीतरागता उत्पादन का किंचित भी प्रयास करे बिना कथन के एक अंश को पकड़कर आत्मा को सिद्ध समान शुद्ध मान बैठते हैं। पर्याय की विकृतियों एवं अशुद्धियों का कर्ता द्रव्यकर्मों को मानते हुवे अपने को नहीं मानकर विषयभोगों में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरते रहते हैं। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन, पूजन, स्वाध्याय आदि कार्यों को

क्रियाकांड कहकर निषेधकर अपने आत्मा को शुद्ध मानकर ध्यान करने लगते हैं। इसीप्रकार के ध्यान करने के शिविर लगाकर लोगों को विपरीत मार्ग पर लगाकर अपने को धर्मगुरु कहलाकर लोक में भोले प्राणियों का अत्यन्त अहित करते हैं। वे स्वयं तो निश्चयाभासी हैं ही और निश्चयाभास का प्रचार भी करते हैं। ऐसे जीव पापी ही हैं व पाप का बंध करते हैं। भोले अज्ञानी अपने विषय-कषायों में बाधा डाले बिना, सरल मार्ग देखकर तथा जल्दी ही आत्मा का अनुभव कर धर्मात्मा बन जाने के लोभ से ऐसे जाल में फँस जाते हैं।

दूसरे प्रकार के ऐसे धर्मगुरु हैं जो भोले प्राणियों को यह कहकर कि मात्र शास्त्र अध्ययन अथवा श्रवण, मनन से क्या होगा; कुछ करना पड़ेगा तभी तो धर्म होगा आदि-आदि कहकर कुमार्ग में लगा देते हैं। अतः भावों की प्रधानता भी नहीं रखते हुए शुष्क क्रिया कांड अर्थात् शारीरिक क्रिया जैसे – व्रत-उपवास-त्याग-तपस्या आदि कार्यों में धर्म बताकर लगा देते हैं। ऐसे कार्यों को करने में आत्मा के भावों में कषायों की उग्रता होती हो तो भी उसको धर्म का साधन मान लेते हैं। इन क्रियाओं को क्रोध मान आदि कषायपूर्ति करके भी उनको धर्म का साधन मानते हैं व दूसरों से भी मनवाते हैं। ऐसे एकांत जड़ क्रियावादी हैं। जो समझने का रंचमात्र भी प्रयास नहीं करते ऐसे स्थूल बुद्धिवाले हैं। समझने को समय बर्बाद करना मानकर तथा इस मार्ग को शीघ्रता से धर्म प्राप्त करने का मार्ग मानकर इन्हीं को करते हुए जीवन समाप्त कर देते हैं। ऐसे जीव अपने परिणामों के अनुसार पुण्य अथवा पाप का बंध करते हैं।

तीसरे प्रकार के ऐसे धर्म गुरु हैं जो वीतरागता का वास्तविक स्वरूप नहीं समझकर मात्र क्रोध, मान, माया, लोभादिक की मंदता

को ही वास्तविक वीतरागता बताकर वास्तावेक मोक्षमार्ग बताते हैं। भोले जीवों को वास्तविक वीतरागता प्रगट करने के पुरुषार्थ से भ्रष्ट कराके मिथ्यामार्ग में लगा देते हैं। वास्तविक वीतरागता तो अपने त्रिकाली भाव में अपनापन आने के फलस्वरूप ज्ञेय मात्र में परपना आकर उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि प्रगट होना है। परिणति का आत्मा की ओर सिमटना ही अनंतानुबंधी की क्षीणता संबंधी वीतरागता है। उसके प्रगट करने के पुरुषार्थ रहित, मात्र कषायों में लेश्या की मंदता को वीतरागता बताकर, प्राणियों को मार्ग से भ्रष्ट करके मात्र पुण्य संचय के कार्यों में लगा देते हैं। साथ ही उनको तर्क देते हैं कि धर्म का प्रारंभ भी तो कषाय की मंदता में होता है, कषायें मंद नहीं होने पर तो विशुद्धिलब्धि भी नहीं होती। इसप्रकार के तर्कों के माध्यम से मिथ्यामार्ग की प्ररूपणा कर, भोले अज्ञानी जीवों को मार्ग भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसे जीव अपने भावों के अनुसार पुण्य बंध करते हैं, लेकिन संसार अभाव करने के उपायों से अति दूर वर्तते हैं।

चौथे प्रकार के धर्मगुरु कुशाग्र बुद्धिवाले होते हैं। अपने ज्ञान के क्षयोपशम की कुशाग्रता के द्वारा जिनवाणी के कथन को समझते हैं, जिनवाणी का अध्ययन करते हैं, प्ररूपणा भी आकर्षक करते हैं, लेकिन कथन के अभिप्राय को हृदयंगम नहीं करते। ऐसे विद्वान् जिनवाणी के कथनों का वास्तविक अभिप्राय जो कि एक मात्र ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में अपनापन आकर आत्मा की परिणति में वीतरागता उत्पादक एवं पोषक होना चाहिये, ऐसे अभिप्राय को मुख्य नहीं रखते हुवे तथा अपने कथनों को वीतरागता की कसौटी पर परखे बिना ही, अपने क्षयोपशम ज्ञान की (बुद्धि की) कुशाग्रता के अतिरेक में, अपनी कल्पना से अनेक प्रकार के मिथ्या-अभिप्राय निकाल लेते हैं। अपने मान पोषण के लिये अपने अनुयायियों को ऐसा बताकर प्रभावित करते हैं कि

पूर्वाचार्यों ने कथन का जो अभिप्राय नहीं समझा था, ऐसा अभिप्राय मैंने समझा है, वह सत्यार्थ है। इसप्रकार आचार्यों से भी अपने को महान सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं और ऐसे अभिप्रायों के माननेवालों का एक पक्ष बना लेते हैं। उनके पक्ष के पक्षपातियों को वास्तविक धर्मात्मा कहकर संबोधन करते हैं। उनके पक्ष को नहीं माननेवालों को अधर्मात्मा मिथ्यामार्गी आदि शब्दों से सम्बोधन कर अपने को धर्मगुरु मानकर उनको तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं। धर्मशिक्षा का मूल उद्देश्य तो अपनी परिणति में वीतरागता का उत्पादन करना है। तथा परिणति समस्त पर की ओर से सिमटकर अपने आत्मा के सन्मुख वर्तनी चाहिये। उसके विपरीत, आचार्य भगवंतों के बताये उद्देश्य का भी उल्लंघन करते हुए अपने अभिमान पोषण में लगे रहते हैं। वे वास्तविक गुरु नहीं हैं। ऐसे पक्ष व्यामोह में पड़कर, धर्म का अंश भी अपनी परिणति में जाग्रत नहीं करके व्यक्तिवाद के प्रचारक बनकर सारा जीवन नष्ट कर देते हैं। उनको अपने परिणामों के अनुसार मिथ्यात्व सहित का पुण्य अथवा पाप बंध होता रहता है।

सत्यार्थ पुरुषार्थ से भी अनुभव क्यों नहीं होता ?

उपरोक्त सभीप्रकार के दोषों से रहित, एक मात्र आत्मकल्याण करने के पुरुषार्थ में संलग्न, ख्याति लाभ पूजादिक की कामना रहित, सच्ची निष्ठा के साथ धर्म का साधन करते हैं, वे सच्चे आत्मार्थी होते हैं। वे आचार्य भगवंतों के द्वारा निर्देशित तथा जिनवाणी द्वारा प्रतिपादित सत्यार्थ मार्ग ग्रहण करनेवाले होते हैं; भवभ्रमण से भयभीत रहते हुये, जिनेन्द्र-आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो जावे, इससे डरनेवाले होते हैं। ऐसे आत्मार्थी भी किसप्रकार की भूल कर लेते हैं, यह समझना

भी महत्त्वपूर्ण है।

वास्तव में धर्मोपदेश समझने का उद्देश्य और धर्म की साधना का उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता है, दोनों का अंतर उनकी दृष्टि में - समझ में स्पष्ट नहीं होता।

मार्ग समझने का कार्य तो परलक्ष्यी ज्ञान में होता है, लेकिन साधना तो आत्मलक्ष्यी ज्ञान में होती है। समझने में ज्ञान को फैलाना (विस्तरित) करना पड़ता है, लेकिन धर्म की साधना में तो विस्तरित ज्ञान को समेटकर आत्मलक्ष्यी करना होता है – यह मूलभूत अंतर है। जैसे त्रिकाली ज्ञायक में अपनापन स्थापन करने से एवं परज्ञेयों के साथ आत्मा का कोई भी संबंध नहीं है और आत्मा उनका कर्ता-धर्ता भी नहीं है, मात्र अकर्ता ज्ञायक है, आत्मा की स्वयं की योग्यतानुसार जानना भी अपने ही आत्मप्रदेशों में होता है आदि–आदि कथनों के द्वारा समझा जाता है। उन सबके समझने के लिये ज्ञान विस्तरित होता है अर्थात् फैलता है। लेकिन आत्मसाधना के लिये तो अपने परिणमन में त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपनापन स्थापन हो जाने पर भी, ज्ञेय मात्र के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धापूर्वक तथा उनके प्रति अकर्तृत्वबुद्धिपूर्वक उपेक्षित रूप से ज्ञायक रहना है। तथा आत्मा के ज्ञान का उपयोग, पर से सिमटकर अपने ज्ञायक के सन्मुख होना है। ऐसा मूलभूत अंतर दोनों प्रकार की पद्धतियों के उद्देश्यों में रहता है। आत्मसाधना में रुचि एवं परिणति की शुद्धता का पृष्ठबल मुख्य रहता है और उपदेश समझने में बुद्धि की कुशाग्रता (ज्ञान के क्षयोपशम) का पृष्टबल मुख्य रहता है। यही मुख्य कारण है कि ग्यारह अंग, नवपूर्व का अभ्यासी भी वास्तविक रुचि एवं परिणति के अभाव में आत्मसाधना से वंचित रहकर, संसार का अंत नहीं कर पाता, लेकिन तिर्यंच रुचि की उग्रता के फलस्वरूप अल्प क्षयोपशम होने पर भी अनुभव प्राप्त

कर लेते हैं, लेकिन यह भी जानना महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य को तो यथार्थ मार्ग समझे बिना, रुचि ही जाग्रत नहीं हो पाती। फलतः आत्म-साधना भी संभव नहीं होती।

इसप्रकार सच्ची निष्ठा के साथ आत्मसाधना करने में सक्रिय आत्मार्थी भी कोई यश प्रतिष्ठा आदि के लोभ बिना उपरोक्त उद्देश्यों की वास्तविकता समझे बिना, पुरुषार्थ करते हुए भी आत्मानुभव प्राप्त नहीं कर पाते।

प्रश्न :– समझने में ऐसी क्या भूल रह जाती है; जिससे आत्मानुभव नहीं हो पाता ?

उत्तर :– प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में झूलनेवाले आचार्यों के द्वारा रचित जिनागम तो यथार्थ मार्ग का ही प्रतिपादक होता है; क्योंकि रचनाकार आचार्यों ने तो स्वयं अनुभव करके अपना अनुभूत मार्ग ही शास्त्रों में प्रतिपादित किया है। अतः उसमें भूल होना तो संभव ही नहीं है; लेकिन उनके समझनेवाला अभ्यासी आत्मार्थी, उन उपदेशों में से किसको मुख्य मान लेता है और किसको अमुख्य मान लेता है; यह तो उसी की समझ पर निर्भर करता है। जो वास्तव में मुख्य होना चाहिये था, उसको अमुख्य मानकर गौण समझ लेवे तो ऐसी भूल भी तो निर्णय करनेवाला ही कर सकता है ? ऐसी भूल का फल यथार्थ कैसे आवेगा ? तात्पर्य यह है कि सच्ची निष्ठा से पुरुषार्थ करनेवाले को भी उपरोक्त प्रकार से समझ की भूल का फल, आत्मानुभव कैसे आ सकेगा ? नहीं आ सकेगा।

भूल खोजने के उपाय

प्रश्न :– वह भूल किसप्रकार की रह जाती है ?

उत्तर :– जिनवाणी के कथनों का मूल उद्देश्य तो इस संसारी अज्ञानी आत्मा को, सिद्धभगवान बनने का मार्ग समझाना है। समस्त

द्वादशांग का केन्द्र बिन्दु अनेक प्रकार से उपरोक्त एक ही उद्देश्य को समझाना है। उस प्रक्रिया में सर्वप्रथम सिद्ध भगवान का स्वरूप समझाते हैं, ताकि उनका स्वरूप समझकर इसको भी सिद्ध बनने की रुचि जाग्रत हो।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? कि समस्त विश्व में छह जाति के अनंतानंत द्रव्य हैं और वे अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से स्वयं की सत्ता में रहते हुए हर समय परिणम रहे हैं। सिद्ध भगवान उन अनंतानंत द्रव्यों के बीच रहकर जानते हुए भी सबसे अत्यन्त भिन्न रहते अपने आप में परिणमते रहते हैं। वे उन अनंत द्रव्यों के परिणमनों में कुछ भी करते नहीं, लेकिन अपने प्रदेशों में ही रहते हुए उनके सन्मुख हुए बिना भी अनवरत रूप से स्व एवं पर सबको जानते अवश्य रहते हैं। इसप्रकार वे स्व एवं पर समस्त विश्व के अपने में रहते हुए भी ज्ञाता हैं एवं अकर्ता भी हैं। इन दोनों कारणों से कुछ नवीन करने की भावनारूप इच्छा एवं नहीं जाने को जानने की इच्छा इसप्रकार की इच्छाओं के अभाव होने से रागादि से रहित वर्तते हैं एवं परम सौख्य परम आनन्द के निरंतर उपभोक्ता बने रहते हैं। ऐसी सिद्ध भगवान की वर्तमान दशा को समझने से, संसारी जीव को भी परम सौख्य की कामना होने से उनके जैसा बनने की भावना जाग्रत होती है एवं रुचि जाग्रत होती है।

उपरोक्त भावना प्राप्त आत्मार्थी को सिद्ध बनने की भावना जाग्रत होने से वह अपने आत्मा के अनुसंधान करने को उद्यत होता है तब ज्ञात होता है कि मेरी दशा तो सिद्ध भगवान की दशा से अत्यन्त विपरीत अनुभव में आ रही है। सिद्ध भगवान तो स्व-पर प्रकाशकज्ञान स्वभाव के द्वारा स्व एवं पर समस्त लोकालोक को अपने आप में ही सीमित रहते हुए सहज स्वाभाविक से ज्ञायक हैं। एकमात्र स्व में

अपनापन होने से स्व के साथ तन्मय होकर परिणमते रहते हैं। ज्ञेय मात्र में परत्व बुद्धि पूर्वक तन्मयता रहित ज्ञाता बने रहते हैं; फलस्वरूप किञ्चित् मात्र भी राग नहीं होता। अत्यन्त सुखी-सुखी बने रहते हैं। पं. दौलतरामजी ने कहा भी है –

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि रज रहस विहीन।।

पं. भागचन्दजी ने भी कहा है –

अप्रमेय ज्ञेयनि के ज्ञायक, नहिं परिणमति तदपि ज्ञेयनि में।
देखत नयन अनेकरूप जिम, मिलत नहीं पुन निज विषयनि में।।
निज उपयोग आपने स्वामी, गाल दियौ निश्चल आपुनि में।
है असमर्थ बाह्य निकसनि कों, लवण घुला जैसे जीवन (जल) में।।

इसप्रकार अरिहंत एवं सिद्ध भगवान तो पूर्ण वीतरागी एवं सर्वज्ञ होकर परम अतीन्द्रिय आनंद को भोग रहे हैं और अनंत काल तक भोगते रहेंगे।

मेरी दशा उपरोक्त दशा से अत्यन्त विपरीत वर्त रही है। भगवान सिद्ध के समान ही मेरे ज्ञान का स्वभाव भी तो स्व-परप्रकाशक ही है और मैं भी उसी ज्ञान के द्वारा स्व एवं पर जो भी ज्ञात होते हैं, अपने में सीमित रहते हुए, उनके सन्मुख हुए बिना सबका ज्ञायक हूँ। वे लोकालोक के ज्ञायक हैं, मैं अल्पज्ञेयों का ज्ञायक हूँ, लेकिन जानने की प्रक्रिया तो दोनों की समान है; लेकिन मुझे तो अनादिकालीन अज्ञानदशा के कारण अपने आपके अस्तित्व का ज्ञान श्रद्धान ही नहीं है और पररूप ही अपना अस्तित्व मानता हूँ। इस कारण मेरा ज्ञान अकेला परलक्ष्यी ही बना हुआ है। फलतः मेरे ज्ञान में स्व तो आता ही नहीं, मात्र पर ज्ञेय ही ज्ञान के विषय बनते हैं। इसलिए अपनी झूठी (मिथ्या) कल्पना से असमानजातीय द्रव्यपर्याय अर्थात् जीव और शरीर

रूपी पुद्गलों की एक क्षेत्रावगाही दिखनेवाली यह मिश्र पर्याय है, इसको तो स्व मान लेता हूँ और अपने आपको इनका स्वामी मान लेता हूँ। और अपने अनुकूल परिणमन कराना चाहता हूँ तथा प्रतिकूलताओं को दूर करने के प्रयासों में ही निरंतर लगा रहता हूँ। इसकारण कर्ताबुद्धिपूर्वक उपयोग भी इन्हीं कार्यों में संलग्न रहता है। इसप्रकार आत्मा को ज्ञायकस्वभावी मानने के विपरीत कर्तास्वभावी मानकर, अज्ञानी मिथ्यामान्यता को दृढ़ करता जाता है। फलस्वरूप निरंतर राग और द्वेष का उत्पादन करता हुआ अत्यन्त आकुलित बना रहता है। इसलिए जब तक यह अपनी मान्यता नहीं बदलेगा तब तक संसार में भ्रमण करता ही रहेगा।

इसप्रकार सिद्ध भगवान के स्वरूप को समझकर, उनके स्वरूप से अपनी वर्तमान स्थिति को मिलाकर, दोनों का अंतर ज्ञान में स्पष्ट समझे। तथा अपने अंतरंग में ऐसी उग्र रुचि जाग्रत हो कि अब तो मेरी भूल मेरे समक्ष में स्पष्ट हो चुकी है तथा सिद्ध भगवान बनने का मार्ग बहुत छोटा दिखने लगा है। तब वह आत्मार्थी समस्त जिनवाणी में से मात्र उपरोक्त भूल को निकालने के उपायों की ही खोज करेगा।

भूलें निकालने के उपाय

प्रश्न :– जिनवाणी में से उपरोक्त भूलों को निकालनें के उपायों को (मार्ग को) किसप्रकार खोजा जावे अर्थात् निकालकर समझा जावे?

उत्तर :– सर्वप्रथम तो सच्चे आत्मार्थी को धर्म प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव हुई हो। सांसारिक विषय भोगों में, मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने आदि के आकर्षणों में फँसने की रुचि मंद हुई हो, वरन् उनमें आकुलता रूपी दुख लगता हो। निराकुलतारूपी सुख प्राप्त

करने की अंतर में रुचि जाग्रत हुई हो; ऐसा जीव ही मार्ग प्राप्त करने के कार्य को प्राथमिकता देगा। रुचि उस ओर ही निरंतर अग्रसर रहेगी। वह जीव ही धर्म का मार्ग समझने का पात्र है। वह समझता है कि –

''आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न तातैं शिवमग लाग्यौ चहिये ।।"

इसप्रकार वह जीव धर्म का मार्ग समझने के लिये तीव्र रुचि के साथ खोज करता है।

ऐसा पात्र जीव निराकुलता रूपी सुखप्राप्त करने के लिये श्रीगुरुओं एवं धर्मी आत्माओं की खोज करता है तथा जो इसीप्रकार के मार्ग को समझकर, उसकी साधना में संलग्न हों, ऐसे साधकों का समागम कर उनसे मार्ग समझता है।

वे साधक महापुरूष ऐसे पात्र जीव को सर्व प्रथम विश्व की व्यवस्था समझाते हैं। विश्व में कुल मिलाकर छह जाति के अनंतानंत द्रव्य हैं। हर एक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है। सभी की सत्ता 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' है। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावों-सामर्थ्यों सहित अपने-अपने प्रदेशों में ही, ध्रुव स्थाई नित्य रहते हुए भी हर समय, उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं एवं अपने-अपने स्वभावों के उपभोग में व्यस्त रहते हैं। आकाश के एक ही क्षेत्र में छहों द्रव्य रहते हुए भी कोई किसी अन्य द्रव्य के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप आदि नहीं करते; सभी अनवरतरूप से अपना-अपना कार्य करते रहते हैं अर्थात् अपने-अपने स्वभावों का उपभोग करते रहते हैं।

ऐसे ही अनन्तानंत द्रव्यों में जीव जाति के भी अनन्त जीव द्रव्य हैं। विश्व के सभी द्रव्यों के समान सब जीवों का स्वभाव भी अपने-अपने स्वभाव-सामर्थ्य में ही अनवरतरूप से परिणमते रहकर

अपने स्वभावों को भोगते रहने का है। सभी द्रव्यों के स्वभाव तो समान ही हैं। परिणमन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने का सामर्थ्य ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीव का स्वभाव भी तो सब द्रव्यों के समान ही है। वह भी अपने स्वक्षेत्र में ही रहते हुए अपने गुण-स्वभाव-सामर्थ्यों का अनवरतरूप से उपभोग कर सकता है। अन्य किसी भी द्रव्य अथवा जीव के परिणमन को जानते हुए भी उसके परिणमन में हस्तक्षेप नहीं करता। फलतः निरंतर निराकुल रहते हुए अपने स्वभाव-सामर्थ्य का उपभोग कर सकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भगवान सिद्ध की आत्मा है।

छहों जाति के अनंतानंत द्रव्यों में से एक जीव द्रव्य में ही विशेष प्रकार के गुण हैं जो अन्य द्रव्यों में नहीं है। उनमें महत्त्वपूर्ण गुण ज्ञान है। उस ज्ञान गुण का स्वभाव है कि वो स्व के साथ पर को परिणमनों सहित स्वक्षेत्र में रहते हुए ही तथा उनके सन्मुख हुए बिना ही, अपनी सामर्थ्य से जान लेता है। उन तक जाता भी नहीं तथा बिना हस्तक्षेप करे ही जानता है। जिनको जानता है, उनको पता भी नहीं होता कि उनको कोई जान रहा है। पाँच जाति के द्रव्य तो जानते ही नहीं, अतः वे भूल भी नहीं करते; फलतः सबके परिणमन तो ध्रुव के समान ही होते रहते हैं, अंतर नहीं होता।

लेकिन आत्मा तो जाननेवाला द्रव्य है, वह भूल भी कर सकता है। भूल नहीं करे तो उसका भी परिणमन, ध्रुव के जैसा ही होता रहे। आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त सुख गुण भी है तथा भोक्ता गुण भी है अतःवह सुख का वेदन भी करता है। इसलिए आत्मा भूल नहीं करे तो अनंत काल तक निराकुलसुख – आनंद का अनवरत उपभोग करता हुआ रह सकता है। इसका प्रत्यक्षप्रमाण है भगवान अरहंत एवं सिद्ध की आत्मा। वे स्व को जानते हुए भी लोकालोक को अपने ही स्वक्षेत्र

में रहकर जानते हैं। तथा उनको जानते हुए भी अपने आप में ही तन्मय रहते हैं। फलतः निराकुलतारूपी आनन्द का अनवरतरूप से उपभोग करते रहते हैं। किसी में कुछ भी करने संबंधी आकुलता का अवकाश ही नहीं रहता तथा ज्ञायक होने के साथ अकर्ता भी हैं, अतः वे निराकुलतारूपी पूर्णसुखी हैं।

साधक महापुरुष की भी उपरोक्त वस्तुस्वरूप सुनकर, समझकर रुचि उग्र हो जाती है; मोक्षमार्ग सरल लगने लगता है। उपाय प्राप्त हो जाने से रुचि में और भी उग्रता हो जाती है। फलस्वरूप आत्मार्थी को संसार के आकर्षण अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते। समझने के लिये ज्यादा से ज्यादा समय सत्समागम करने में लगाता है। तथा जिनवाणी में से भी उपरोक्त मार्ग को स्पष्ट करनेवाले कथनों के समझने में ही अपना उपयोग लगाने को चेष्टित रहता है।

भगवान बनने का मार्ग

प्रश्न :– फिर भगवान बनने का उपाय क्या है ?

उत्तर :– उपरोक्त कथन का उद्देश्य भी समझ लेने मात्र का नहीं था। समझ लेने से आत्मा में निराकुलता प्रगट नहीं हो सकेगी। समझ लेने का कार्य तो रुचि के बिना के कुशाग्रबुद्धि धारक जीव भी कर लेते हैं; ग्यारह अंग नौ पूर्व का धारी भी कर लेता है। उद्देश्य तो उस कथन को समझकर अपनी परिणति में वीतरागता की उत्पत्ति कराना था, क्योंकि समझ लेने मात्र से परिणति में निराकुलता नहीं प्रगट हो सकेगी। तद्रूप परिणमन से जो वीतरागता उत्पन्न होगी, उसके द्वारा आत्मा में निराकुलता प्रगट हो सकेगी।

उपरोक्त कथनों के समझने से आत्मार्थी को निम्न प्रकार के निर्णय होकर उद्देश्य सफल हो जाते हैं। (1) विश्व के समस्त द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा हो जाने से पर में कर्तृत्वबुद्धि की मान्यता

समाप्त हो जाती है। अपनी परिणति उनके सुधारने बिगाड़ने में फैल रही थी, वह सिमटकर अपने आत्मा में ही सीमित हो जाती है। फलस्वरूप, आंशिक वीतरागता आ जाती है। (2) मुझे निराकुलतारूपी सुख चाहिये। ऐसे सुखी सिद्ध भगवान हैं। उनकी आत्मा भी पहले हमारे जैसी ही दुखी थी; यथार्थ मार्ग अपनाकर, वे पूर्ण सुखी होकर विराजमान हैं और अनंतकाल तक बने रहेंगे। इससे मेरा ध्येय भी निश्चित हो गया कि मुझे सिद्ध बनना है, इसप्रकार सारी भटकनें समाप्त हो जाती है। (3) सिद्ध बनने के मार्ग को खोजने की भटकन भी समाप्त हो जाती है। उनकी आत्मा भी संसारी थी, जिस मार्ग को अपनाकर वह आत्मा सिद्ध बनी वह मार्ग ही यथार्थ मार्ग है ऐसी श्रद्धा जाग्रत होकर मार्ग निश्चित हो जाता है। (4) सिद्ध भगवान की आत्मा में जो जो शक्तियाँ एवं सामर्थ्य विद्यमान हैं, वे सब मेरे में भी वर्तमान में विद्यमान हैं। इसप्रकार उनकी आत्मा और मेरी आत्मा में समानता है। उन सब शक्तियों का स्वामी तो मेरा ध्रुवतत्त्व है, वह अनादि-अनन्त है और मैं भी अनादि-अनंत हूँ। अतः मेरा अस्तित्व ही ध्रुवस्वभावी ही है। मैं स्वयं अनंत शक्तियों का स्वामी हूँ। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होती है कि मैं भी सिद्ध बन सकता हूँ। इसमें कोई पराधीनता नहीं है। ऐसा विश्वास जाग्रत हो जाता है तथा रुचि एवं पुरुषार्थ उग्र होकर, ध्रुव के सन्मुख हो जाता है। एक मात्र ध्रुव ही आकर्षण का विषय बन जाता है। ध्रुव में अपनापन आते ही आत्मा की समस्त शक्तियाँ ध्रुव के सन्मुख हो जाती है। ध्रुव में अपनापन आना ही मूल पुरुषार्थ है। (5) यह भी विश्वास हो जाता है कि आत्मा का स्वभाव ही सुख है, दुखी रहना स्वभाव ही नहीं है; लेकिन अपने को भूलकर जो अपने न तो कभी थे और न हो ही सकते हैं, उनको अपना मानकर, उनके ही रक्षण-पोषण में लगा रहा। सिद्ध की आत्मा ने उस भूल को दूर कर दिया तो वे भी

सिद्ध भगवान बन गये।

मैं भी उसी मार्ग को अपनाकर स्वयं भी भगवान बन सकूँगा। इसप्रकार अनंत संसार के अभाव करने का मार्ग प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप रुचि और भी उग्र होकर परिणति सिमटकर आत्म सन्मुख हो जाती है एवं पुरुषार्थ तीव्र गति से आत्मा में अभेद होकर निराकुल आनंद प्राप्त करने के लिये हिलोरें मारने लगता है।

समझने की प्रक्रिया के साथ-साथ स्व में अपनापन आकर, रुचि एवं आकर्षण भी स्व की ओर बढ़ता रहे। पर की ओर से आकर्षण घटकर, परिणति को भी सिमटकर, आत्मा में अभेद होने की उत्सुकता बढ़ती रहे, तब ही उपरोक्त समझने की सार्थकता है। उपरोक्त प्रकार की समझ, रुचि एवं परिणति के साथ आत्मार्थी को आत्मोपलब्धि प्राप्त कराने में निश्चित रूप से कारण बनेगी।

उपरोक्त आत्मार्थी ने वस्तु व्यवस्था समझकर सबको स्व एवं पर के रूप में बाँट लिया, स्व तो अकेले अपने ध्रुवतत्त्व को माना उसमें अपनापन स्थापनकर, बाकी सबको पर के रूप में जानता हुआ उनके प्रति उपेक्षित वर्तता रहता है।

मेरा स्वभाव पूर्ण अकर्ता स्वभावी है। स्व एवं पर सबको जानने के स्वभाववाला होते हुये भी निराकुल आनन्द स्वभाववान भी है, साथ ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति सामर्थ्य के साथ अपने में ही तन्मय होकर रहनेवाला है। जिसप्रकार विश्व के अचेतन पांचों द्रव्य भी अपने-अपने स्वभावों से तन्मय रहकर परिणमते हैं, उसीप्रकार का मेरा भी स्वभाव है। उसने यह भी समझ लिया है कि आत्मा का स्वभाव तो जानना है और जानना भी स्व और पर दोनों को अपने में ही रहते हुये परलक्ष्य करे बिना जानना है। स्व को स्व के रूप में एवं पर को पर के रूप में जानना है। ज्ञाता स्वभाव के साथ आत्मा अकर्ता स्वभावी भी है। अतः

कोई भी द्रव्य किसी के परिणमन में किसीप्रकार हस्तक्षेप नहीं कर सकता; ऐसी श्रद्धा भी जानते समय ही साथ वर्तती है। अतः उपरोक्त समझ एवं श्रद्धा के कारण, वे द्रव्य आत्मा को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। मेरे आत्मा का स्वभाव-सामर्थ्य भी सिद्ध भगवान जैसा ही है। ऐसा अटूट विश्वास (श्रद्धा) जाग्रत होकर आत्मार्थी की रुचि एवं परिणति बहुत उग्रता को प्राप्त हो जाती है। यह महान-महान उपलब्धि है।

आत्मा में तो विकार ही दिखता है ?

प्रश्नः– लेकिन जब मेरी आत्मा की ओर देखता हूँ तो मुझे वह स्वभाव-सामर्थ्य तो अनुभव में नहीं आता और विकार ही विकार दिखने लगता है, ऐसी स्थिति में अपना त्रिकालीध्रुवतत्त्व कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर :– उपाय तो बहुत सरल एवं स्पष्ट है। हर एक द्रव्य के स्वभाव-सामर्थ्य एवं ध्रुवतत्त्व तो अनादि-अनन्त अपरिवर्तित रहते हैं। जैसे पुद्गल का अचेतन स्वभाव तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि स्वभाव अनादि-अनन्त पुद्गल के साथ वर्तता ही रहता है, वह कभी अचेतन से चेतन नहीं होता और सभी द्रव्यों के स्वभाव अपने-अपने द्रव्य में स्थाई रूप से – ध्रुवरूप से अनादि-अनन्त वर्तते रहते हैं। इसीप्रकार आत्मा के भी स्वभाव, स्थाई – ध्रुव नित्यरूप से अनादि-अनन्त उसके स्वामी ध्रुवतत्त्व में ही बने रहते है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। यह तो वस्तु का धर्म है। अपने स्वभाव के बिना वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा। अतः वह ध्रुव ही तो मैं हूँ, उसमें तो विकार है ही नहीं। हमारी खोजने की प्रक्रिया में कहीं भूल होनी चाहिये।

अज्ञानी की तो अनादि काल से मात्र पर्याय दृष्टि ही रही है,

इसलिए उपरोक्त कथन को सुनकर भी, वह उस ध्रुव स्वभावी तत्त्व एवं स्वभाव-सामर्थ्यों को भी अनित्य पर्याय में ही खोजता है; नित्य स्वभावी गुण एवं द्रव्य अनित्य पर्याय में मिल ही नहीं सकते, अतः अज्ञानी को ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है।

वास्तविक विधि है कि अपने ध्रुवस्वभाव एवं सामर्थ्यों का स्वरूप समझकर श्रद्धा विश्वास किया जाता है, ज्ञान में ज्ञात नहीं हो सकेंगे। ज्ञान में तो जब ही प्रगट हो सकेंगे, जब ध्रुव में अपनत्व होकर अपनेपन की श्रद्धा कर, उसको रुचि और आकर्षण का विषय बनाकर, अन्य सबसे रुचि एवं आकर्षण तोड़कर, अपने ज्ञान को स्वलक्ष्यी होने के लिये बाध्य कर दे, तो ज्ञान अपने ध्रुव स्वभाव को विषय बनावेगा; उसी समय निर्विकल्प होकर आत्मा अपने स्वभाव-सामर्थ्यों सहित श्रद्धा-ज्ञान का विषय बनकर, अनुभव में साक्षात्कार कर लेगा। उपरोक्त दशा होने के पहले नहीं। उपरोक्त श्रद्धा प्रगट होने पर रुचि एवं श्रद्धा के बल से ज्ञान के विषय जो रागादि बनेंगे, उनके प्रति उपेक्षाबुद्धि प्रवर्तित होने लग जावेगी।

उपरोक्त समझ का इतना तो महान लाभ हुआ कि अभी तक मेरा पुरुषार्थ सारे विश्व में बिखरा पड़ा था। वह सब ओर से सिमटकर अकेले मेरे आत्मा में आ गया, फलस्वरूप अपने आत्मकल्याण के लिए मेरा सामर्थ्य अनंतगुणा बढ़ गया। दूसरा लाभ यह हुआ कि सुख प्राप्ति के लिए मैं अभी तक अनंत परं पदार्थों में भटकता फिरता था। वह भी सिमटकर अकेले मेरे आत्मा में आ गया। सिद्ध भगवान को भी उनके आत्मा में से ही प्राप्त हुआ है, अतः मुझे भी मेरे सुख के लिए किसी की भी अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार महान उपलिब्धयाँ प्राप्त हो गईं।

लेकिन अब उस सुख के प्राप्त करने की प्रक्रिया को समझना

है तथा समझकर उसका आचरण (प्रयोग) करना है। तभी तो सुख प्राप्त होगा ?

गुण आत्मा में रहते कहाँ हैं ?

प्रश्नः— वे स्वभाव–सामर्थ्य कहाँ हैं ?

उत्तर :— उपरोक्त जिज्ञासा का समाधान तो अपने आत्मा के अनुसंधान से ही सम्भव है। इसलिए अपने आत्मद्रव्य को ही, भेद-प्रभेद पूर्वक विश्लेषण करके समझना है। पूर्व पद्धति में तो आत्मा भिन्न द्रव्य होने से छहों द्रव्यों से किसीप्रकार का सम्बन्ध है ही नहीं – ऐसा बताया था, अतः उनको तो भिन्न मानना ही यथार्थ है।

वर्तमान पद्धति में तो अकेले आत्मद्रव्य की ही चर्चा करेंगे, छहद्रव्यों की भिन्नता की नहीं। अतः बुद्धि को अकेले आत्मद्रव्य पर ही सीमित रखना चाहिये। उसकी सत्ता अभेद एक है; कहा भी है 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् ध्रुव एवं पर्याय (उत्पाद-व्यय) दोनों को मिलाकर सत् तो एक ही है। इसलिए ये दोनों अन्य द्रव्यों के समान भिन्न नहीं किए जा सकते, लेकिन जिनवाणी की ऐसी आज्ञा है कि संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन के लिए अभेद को भी भेद करके समझा जा सकता है। इसलिए हम भी इस प्रकरण में आत्मा को भेद करके समझेंगे।

अब हम आत्मा में शुद्धि प्रगट करने के प्रयोजन के लिए आत्म द्रव्य में ध्रुव और पर्याय (उत्पाद-व्यय) के भेद करके समझेंगे। अन्य कोई उपाय नहीं है। वास्तव में सत्ता अर्थात् अस्तित्व तो अभेद एक ही है, इसलिए भेद के कथनों को सुनकर वस्तु के ही टुकड़े करके अर्थात् दोनों को अलग-अलग नहीं मान लेना चाहिए। यही कारण है कि जिनवाणी में ऐसे कथनों को व्यवहार कथन कहा गया है अर्थात् जैसा कथन किया वैसा ही वस्तु को नहीं मान लेना ही व्यवहार का

संदेश है। वस्तु अभेद और अनुपचरित जैसी है, वैसी ही वस्तु को बताना निश्चय कथन है। इसलिए अपने आत्मा को अभेद होते हुए भी ध्रुव एवं पर्याय के रूप में भेद करके समझेंगे; क्योंकि पर्याय अशुद्ध है एवं अनित्य स्वभावी है। अतः भेद करे बिना उसकी शुद्धि कैसे हो सकेगी? इसलिए भेद-प्रभेद करके समझना पड़ता है। ताकि मोक्षमार्ग में उत्तरोत्तर वृद्धि करने का मार्ग समझा जा सके।

विश्व के सभी द्रव्यों की शक्तियाँ अपने-अपने द्रव्य में अपरिवर्तनीय ध्रुव बनी रहती हैं। इसलिए वे हर एक द्रव्य के ध्रुव में ही रहती हैं। गुणों के ध्रुव बने रहने का स्थान भी ध्रुव ही होना चाहिए; अध्रुव-अनित्य स्वभावी पर्याय में ध्रुव सामर्थ्य आदि कैसे रह सकते हैं? नहीं रह सकते। तात्पर्य यह है कि आत्मा की शक्तियों-गुण आदि का समुदाय-पिंड ही द्रव्य है, आत्मा उनके बिना कोई क्षण भी रह ही नहीं सकता। अतः स्पष्ट है कि आत्मा के ज्ञानस्वभाव अकर्तास्वभाव सुखस्वभाव आदि अनंतस्वभाव, आत्मा के ध्रुवांश अर्थात् ध्रुवपक्ष में ही अनादि से रहते चले आये हैं और अनंत काल तक वैसे के वैसे ही ध्रुव में बने रहेंगे, ध्रुव में कोई परिवर्तन संभव ही नहीं है।

ध्रुवांश के साथ ही द्रव्य का परिवर्तन स्वभाव अर्थात् पर्याय को पलटते रहना स्वभाव भी है। पर्यायांश तो अनित्य स्वभावी है, अतः क्षण-क्षण में बदलता रहता है; परिवर्तन किए बिना रह ही नहीं सकता।

ध्रुव एवं पर्याय एक ही वस्तु के अंश हैं

इसप्रकार वस्तु का ध्रुव स्वभाव एवं अध्रुव स्वभाव दोनों एक ही द्रव्य में निरन्तर रहते हैं; लेकिन नित्य स्वभाव अनित्य नहीं होता और अनित्य स्वभाव कभी नित्य नहीं होता—ऐसी अद्भुत आश्चर्यकारी सत्ता वस्तु की है। इसलिए वस्तु को जिनवाणी में नित्यानित्यात्मक

कहा है। यदि ध्रुवस्वभावी आत्मा त्रिकाली सत् है तो अनित्य पर्याय भी एक समयवर्ती सत् है। इसप्रकार वस्तु अभेद होते हुये भी दोनों स्वभाव निरपेक्षतया वर्तते रहते हैं। वस्तु को द्रव्य (ध्रुवत्व) की ओर से देखो तो अपने अनन्त गुणों को समेटे हुये सिद्धसदृश शुद्धवस्तु दिखती है और पर्याय (अध्रुवत्व) की ओर से देखो तो वर्तमान में पर्यायगत योग्यतानुसार, ध्रुव से विपरीत परिणमित हुई अशुद्ध दिखती है। उपरोक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि वस्तु का परिणमन उसप्रकार का नहीं होते हुये भी मात्र दिखती है, वरन् वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि वस्तु का त्रिकाली ध्रुवस्वभाव एवं एक समयवर्ती अध्रुवस्वभाव एक ही वस्तु में एक साथ रहते हुये भी एक दूसरे से निरपेक्ष रह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जब आत्मवस्तु का अनित्यपक्ष अर्थात् पर्याय भी अपने गुणों के अनुरूप हो जावेगी तो वस्तु अर्थात् आत्मा पूर्णता को प्राप्त होकर साक्षात् अरहंतपरमात्मा हो जावेगा ध्रुव के समान पर्याय हो जाने से दोनों एक जैसे ही ज्ञात होने लगेंगे। यही शुद्ध प्रमाण का विषय है। लेकिन जब तक दोनों में अन्तर विद्यमान है तब तक आत्मा संसारी है। आत्मवस्तु तो ध्रुवांश (द्रव्य) एवं अध्रुवांश (पर्याय) दोनों मिलकर एक अभेद अंशी है; अतः वस्तु के पर्यायांश की विपरीतता का अनुभव (वेदन) भी पूरे आत्मद्रव्य (अंशी) को होता है, क्योंकि दोनों रूप एक ही वस्तु है। नित्यस्वभाव तथा अनित्यस्वभाव दोनों एक-दूसरे से विपरीत होते हुये भी अभेद रूप से एक ही वस्तु में रहते हैं। ऐसी वस्तु की अनादि-निधन व्यवस्था है। किसी के द्वारा बनाई हुई नहीं है।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि वस्तु अर्थात् आत्मा की स्थिति ही ऐसी है कि अज्ञान दशा में प्रमाण का विषयभूत पूरा आत्मा, पर को अपना मानने की मिथ्या श्रद्धा होने से मिथ्यात्वी हो रहा है।

ज्ञानी आत्मा का, त्रिकालीज्ञायकभाव में अपनापन होने से, पूरा आत्मा ही सम्यक्त्वी हो जाता है।

ध्रुव एवं पर्याय अभेद रहने से मिथ्यात्व का अभाव कैसे होगा ?

प्रश्न :– जब पर्याय, द्रव्य अभेद ही रहते हैं तो मिथ्यात्वी आत्मा मिथ्यात्व का अभाव कैसे कर सकेगा ?

उत्तर :– द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत आत्मा तो नित्य स्वभावी त्रिकालीसत् है, वह तो ध्रुव अपरिवर्तनीय ही रहता है, लेकिन पर्यायार्थिकनय की विषयभूत पर्याय तो अनित्य स्वभावी, अध्रुव, क्षण-क्षण में परिवर्तन करनेवाली एक समयवर्ती सत् है। इसलिए मिथ्यात्व तो पर्याय है, उसका तो जीवनकाल ही मात्र एक समय का है। इसलिये उसका अभाव होना तो अवश्यंभावी है। मुझे उसका नाश करना कहाँ है ? वह तो रोकने से भी नहीं रुक सकती। जिसका उत्पाद हो गया है, उसका व्यय होना तो अवश्यंभावी है। इसलिए आवश्यकता तो इसकी है कि मिथ्यात्व का नया उत्पाद नहीं होवे।

उत्पाद होने पर तो पर्याय द्रव्य से अभेद होने से सम्पूर्ण आत्मा मिथ्यात्वी होता ही है, इसलिए उस समय तो कुछ करना संभव ही नहीं है ; दूसरे समय का उत्पाद मिथ्यात्वरूप नहीं हो, ऐसा आत्मा के यथार्थ पुरुषार्थ से होना संभव है। इसलिए समस्या मिथ्यात्व को नाश करने की नहीं है, वरन् मिथ्यात्व का उत्पाद नहीं हो इसकी है। इसी को जिनवाणी में मिथ्यात्व का नाश करना कहा है। तात्पर्य यह है कि अनादि से चली आ रही मिथ्यात्व की परम्परा की श्रृंखला को तोड़ना ही मिथ्यात्व के नाश करने का उपाय है।

मिथ्यात्व की श्रृंखला तोड़ने का उपाय

मिथ्यात्व के उत्पादक कारणों की श्रृंखला को तोड़ना ही मिथ्यात्व की श्रृंखला तोड़ने का वास्तविक उपाय है। मिथ्यात्व की परिभाषा है कि जो वास्तव में 'मेरे से पर है अर्थात् त्रिकालीज्ञायक ध्रुवतत्त्व से पर हैं, उन रूप अपना अस्तित्व मानना' (उनको अपना मानना) तथा 'जो वास्तव में अपना है ऐसे त्रिकालीज्ञायक को अपना नहीं मानना'– ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्व है। इसप्रकार की मान्यता की परम्परा ही वर्तमान मिथ्यात्व का कारण है। वास्तव में इस मान्यता की परम्परा तोड़ने का उपाय तो मात्र यथार्थ मान्यता की परम्परा को सर्जन करना है। ध्रुवरूपी द्रव्य में अपनापन उत्पन्न होना ही एकमात्र यथार्थ मान्यता की परम्परा सर्जन करने का उपाय है। मिथ्या मान्यता अनादि से चली आ रही है इसलिए उसका हर पर्याय में पोषण होता रहता है। इसलिये उसकी परम्परा सहज रूप से चलती चली आ रही है, उसके पोषण के लियें पुरुषार्थ किया हो– ऐसा लगता ही नहीं है। लेकिन जिसका स्वरूप अनादि से न तो सुना है, न परिचय में आया है अर्थात् कभी जिस पर विचार भी नहीं किया और न कभी अनुभव ही हुवा, ऐसे त्रिकालीज्ञायक रूप ही अपना अस्तित्व मानना, अत्यन्त कठिन लगता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की गाथा 4 में भी कहा है, उसका हिन्दी पद्यानुवाद निम्नप्रकार है –

सबको सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा।
पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना।।4।।

अतः वास्तविक परम्परा को सिद्ध करनेवाला तथा यथार्थ पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करनेवाला आगम में सिद्धान्त है कि 'पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य का व्यय, उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य के उत्पाद का कारण है।' इसलिए अपने त्रिकालीज्ञायक ध्रुव तत्त्व में अपनापन स्थापन

करने की श्रृंखला प्रारम्भ करना ही वास्तव में करने योग्य पुरुषार्थ एवं मिथ्यात्व का अभाव कर सम्यक्त्व प्राप्त करने की श्रृंखला प्रारंभ करने का उपाय है।

लेश्या की मंदता से आत्मोपलब्धि संभव नहीं

उपरोक्त दुर्लभ स्थिति पर पहुँच जाने पर भी एक भयंकर भूल होने का अवसर रहता है। आत्मार्थी को उससे बचते रहने के लिये सतत सावधान रहना चाहिये। आत्मज्ञान प्राप्त करने की सच्ची लगन से पुरुषार्थ करनेवाले आत्मार्थियों में भी बहुभाग जीव, इस भूल के शिकार हो जाते हैं।

उपरोक्त मार्ग को समझ लेने पर भी धारणाज्ञान में पक्का करने के लिये, तत्संबंधी विकल्पों के द्वारा सच्ची निष्ठा से आत्मार्थी विचार मंथन करता है; एकांतवास करता है। विद्वत्ता दिखाने अथवा लोगों को प्रभावित करने आदि की अपेक्षा नहीं रखता। विकल्पों के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करने का मार्ग पकड़ लेता है।

भूल का स्थान यहाँ से प्रारंभ होता है; यथार्थ मार्ग तो यह था कि उपरोक्त प्रकार की प्रक्रिया से अपने सिद्धस्वाभावी ध्रुवतत्त्व में अपनापन आकर, परिणति विकल्पादि समस्त पर ज्ञेय मात्र से सिमटकर आत्मसन्मुख होकर पर्याय में वीतरागता प्रगट होनी चाहिये थी, लेकिन विकल्पों द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया से परिणति में वीतरागता का उदय तो होता नहीं और कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक घंटों तक ऐसे विकल्प करने में लगा रहता है। इसी को यथार्थ मार्ग मान लेने से इसप्रकार के कार्यों में संलग्न रहता है। साथ ही विकल्पों के द्वारा वह अपने को ज्ञायकस्वभावी मानता हुआ उसी में अपनेपन के तथा परज्ञेयों के प्रति परपने के विकल्प करता हुआ, उनके प्रति उपेक्षा वृत्ति रखने

के विकल्प भी करता रहता है। इसप्रकार की प्रवृत्ति से पर के प्रति कर्तृत्वबुद्धि पूर्वक उपेक्षाभाव बनाये रखने का प्रयास भी करता रहता है। फलतः परवस्तुओं के अनुकूल प्रतिकूल परिणमनों के प्रति उपेक्षा रखने के प्रयासों से कषायों में भी मंदता हो जाती है, लेकिन ऐसी कषाय की मंदता तो लेश्या संबंधी मंदता है; उसी को वह वीतराग भाव की उत्पादक अनंतानुबंधी संबंधी क्षीणता मानकर संतोषित हो जाता है और अपने को यथार्थ मार्गी मानकर मिथ्यात्व का ही पोषण करता रहता है।

प्रश्न :– इसमें भूल किसप्रकार हुई तथा यथार्थता कैसे पहचानी जा सकेगी ?

उत्तर :– पूर्व में इस विषय पर चर्चा कर चुके हैं। मार्ग समझने की पद्धति परलक्ष्यी ज्ञान में होती हैं लेकिन, आत्मानुभव मात्र स्वलक्ष्यी ज्ञान से ही होता है। प्रस्तुत प्रकरण में स्व से तात्पर्य मात्र त्रिकालीज्ञायकध्रुवभाव को ही समझना, पर्यायों सहित का द्रव्य स्व के रूप में नहीं मान लेना चाहिये। परलक्ष्यी ज्ञान तो मन और इन्द्रियों द्वारा ही प्रवर्तित होता है और स्वलक्ष्यी ज्ञान के प्रवर्तन में मन एवं इन्द्रियाँ किञ्चित् भी सहकारी नहीं रहती। स्वलक्ष्यी ज्ञान के प्रवर्तन के फल में वीतरागता की उत्पत्ति होकर अनंतानुबंधी की क्षीणता द्वारा परिणति, पर की ओर से सिमटकर आत्मा की ओर आकर्षित होती है – सन्मुख होती है। परलक्ष्यी ज्ञान द्वारा प्रवर्तन का फल लेश्या संबंधी कषाय की मंदतारूपी शुभराग की उत्पत्ति होकर परिणति पर की ओर ही आकर्षित रहती हुई, आत्मा से परोन्मुख ही बनी रहती है; आत्मलाभ से दूर ही बनी रहती है।

आत्मार्थी ने उपरोक्त मार्ग का यथार्थ उपयोग नहीं करके, विपरीत दिशा में उपयोग किया; समझने की पद्धति को ही आत्मानुभव

प्राप्त करने के लिये उपयोग किया अर्थात् परलक्ष्यी ज्ञान द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करने का प्रयास किया। फलतः उसका फल भी शुभभाव ही प्राप्त हुआ, उससे आत्मानुभव कैसे प्राप्त हो सकता था? अतः नहीं प्राप्त हो सका।

मार्ग के समझने का कार्य तो परलक्ष्यी ज्ञान में ही होता है, यथार्थ मार्ग समझे बिना भी आत्मलाभ नहीं हो सकेगा। लेकिन उसकी मर्यादा यथार्थ मार्ग बता देने, समझा देने तक ही है, आत्मलाभ कराने का कार्य तो उसकी मर्यादा के बाहर है। समझने के पुरुषार्थ में विषय के निर्णय करने के लिये, आत्मस्वरूप के संबंध में, चिंतन-मनन विचार आदि के विकल्प तो होते हैं; उनमें उपयोग भी सब ओर से सिमटकर एकाग्र होता है। साथ ही कषायों में भी शुभ लेश्याओं संबंधी कषाय की मंदता भी होती है; **बस यही स्थान भ्रम खड़ा होने का होता है।** आत्मार्थी को यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य लक्ष्य से बाहर रह जाता है कि उपरोक्त समस्त कार्य तो मन संबंधी बहिर्लक्ष्यी ज्ञान में ही हो रहा है, इससे आत्मलाभ कैसे होगा?

इससे भी इस भ्रम को प्रोत्साहन मिलता है कि ज्ञानी को भी आत्मानुभव के पूर्व इसीप्रकार चिंतन-मनन विचारों आदि में संलग्न देखा जाता है तथा उसको भी कषाय की मंदतारूप शुभभावों में ही प्रवर्तते देखा जाता है। अतः आत्मार्थी को ऐसा भ्रम उत्पन्न होने का अवकाश हो जाता है। लेकिन आत्मा की अंतरंग दशा जो ज्ञानी पुरुष को वर्तती है, उसका तो उसको ज्ञान नहीं होता। वह तो अपनी मान्यतानुसार कल्पना कर लेता है।

आत्मोपलब्धि पूर्व की कषाय मंदता

प्रश्न :– सम्यक्त्व सन्मुख जीव को पाँच लब्धियाँ होती हैं; उनमें विशुद्धिलब्धि होना अनिवार्य है? उससे कषाय की मंदता होना

तो आवश्यक सिद्ध होता है ?

उत्तर :– जिनवाणी का कथन पूर्णतया सत्य है, क्षयोपशम-लब्धि के पश्चात् विशुद्धिलब्धि होती है; क्योंकि कषाय की मंदता अर्थात् संसार की रुचि में मंदता आये बिना, प्राप्त क्षयोपशम का उपयोग आत्मा को समझने के लिये करेगा ही नहीं। अतः वहाँ तो वह अनिवार्य है, लेकिन देशनालब्धि के द्वारा आत्मस्वरूप समझ लेने के पश्चात् तो प्रायोग्यलब्धि का पुरुषार्थ ही कार्यकारी होगा। उसमें तो जो मार्ग निर्णय में आया है, उसको कार्यरूप परिणत कराने का उद्देश्य है। मोक्ष का मार्ग तो वीतरागता है, अतः प्रायोग्यलब्धि में तो वीतरागता का प्रारंभ होता है। अतः उसमें तो अनंतानुबंधी कषाय की क्षीणतारूपी मंदता ही कार्यकारी है, लेश्या संबंधी मंदता नहीं। इस विषय पर विस्तार से चर्चा पूर्व भागों में कर चुके हैं, वहाँ से जान लेवें। अशुभलेश्या संबंधी तीव्रता (कृष्ण लेश्या) तो ज्ञानी को भी होती है और द्रव्यलिंगी अज्ञानी को शुभ लेश्यारूपी मंदता (शुक्ल लेश्या) भी हो जाती है। मोक्षमार्ग प्राप्त करने में ये कारणरूप कैसे हो सकती है। इसके विपरीत अनंतानुबंधी कषाय की क्षीणता तो मात्र ज्ञानी को ही होती है, अज्ञानी को नहीं। अनंतानुबंधी प्रत्याख्यान आदि कषायों का अभाव होना ही मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है, लेश्या संबंधी कषाय की मंदता तो मात्र पुण्य बंध की कारण होती है, मोक्षमार्ग में कारणभूत नहीं होती। लेश्या संबंधी मंदता-तीव्रता तो रागांश की तारतम्यता की द्योतक है; लेकिन अनंतानुबंधी आदि की क्षीणता तो वीतरागता की तारतम्यता की द्योतक हैं, जो कि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत हैं।

प्रश्न :– ऐसी भूमिका कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

उत्तर :– इसप्रकरण में मूलभूत सिद्धान्त तो यह है कि समझने का कार्य तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी दोनों प्रकार के आत्मार्थियों को

मनजनित इन्द्रियाधीन परलक्ष्यी ज्ञान में ही होता है। लेकिन आत्मलाभ तो स्वलक्ष्यी ज्ञान के द्वारा ही होता है। **यहाँ स्वलक्ष्यी का अभिप्राय निर्विकल्पज्ञान से नहीं है, वरन् जिस ज्ञान में पर का आकर्षण कम हो गया हो और आत्मा की ओर का आकर्षण बढ़ गया हो और ज्ञान सहित परिणति पर की ओर से सिमटकर, आत्मा की ओर जाने को आकृष्ट हो रही हो, ऐसे ज्ञान को स्वलक्ष्यी कहने का अभिप्राय है।** यह अभिप्राय ज्ञान में रखते हुए जहाँ-जहाँ स्वलक्ष्यीज्ञान कहा गया हो या आगे कहा जावे, वहाँ यह ही अभिप्राय समझना। तात्पर्य यह है कि आत्मलाभ का कार्य तो आत्मलक्ष्यी ज्ञान से ही सिद्ध होता है।

प्रश्न :– उपरोक्त स्थिति कब और किसप्रकार प्रारंभ होती है?

उत्तर :– उक्त भूमिका प्राप्त करने का मुख्य श्रेय तो रुचि एवं परिणति को है। आत्मानुभव किसी को और कभी भी रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता के बिना हुआ भी नहीं और हो सकता भी नहीं। इन दोनों का प्रारंभ तो क्षयोपशमलब्धि में ही हो जाता है। वहाँ बीजारोपण हो जाता है, वही बढ़ते-बढ़ते क्रमशः पल्लवित होकर आत्मानुभव प्राप्त करा देता है यहाँ परिणति की शुद्धता से अभिप्राय गर्भित शुद्धता से है, ज्ञानी की शुद्ध परिणति से नहीं, ऐसा ही अभिप्राय सभी भागों में समझना।

यथार्थ पुरुषार्थ की पहचान

प्रश्न :– वास्तविक पुरुषार्थ को कैसे पहचाना जावे? क्योंकि हर एक आत्मार्थी को आत्मलाभ प्राप्त करने की रुचि तो होती ही है। उसको रुचि कैसे नहीं कहा जावे?

उत्तर :– पहचानने की कसौटी तो एक मात्र वीतरागता है। हमको भगवान बनना है और भगवान तो पूर्ण वीतरागी हैं, अतः वीतरागी बनने का मार्ग भी वही हो सकेगा, जिसकी साधना से परिणति में

वीतरागता का ही अंश उत्पन्न हो।

वीतरागता, चारित्र गुण की पर्याय है; चारित्र गुण का कार्य है रमणता करना। आत्मा के अनंत गुणों में एक 'स्व-स्वामी-संबंध' नाम का गुण भी है। अतः आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्व का ही स्वामित्व करे अर्थात् स्व को ही अपना माने और उसी में रमणता करे। इस प्रकरण में स्व का तात्पर्य सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व से है। इसलिए जहाँ-जहाँ स्व आवे वहाँ ऐसा ही अभिप्राय समझना। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के ज्ञान के समक्ष स्व एवं पर दोनों उपस्थित होते हुए भी चारित्र गुण रमणता-अभेदता-तन्मयता तो अकेले स्व में ही करे और पर ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी उनमें रमणता, तन्मयता नहीं करे। ऐसा उसका स्वभाव ही है और यह कार्य ही चारित्र गुण की वीतरागता है।

अज्ञानी इससे विपरीत परिणमन करता है। ज्ञान में ज्ञात होने वाले स्व एवं पर दोनों में से पर को ही स्व मान लेने के कारण, सभी कार्य स्वभाव से विपरीत ही होते रहते हैं। फलस्वरूप अज्ञानी पर में ही रमणता, तन्मयता आदि करने की चेष्टा करता है। उसमें असफलता अवश्यंभावी है, अतः वीतरागता के विपरीत राग-द्वेष की अर्थात् शुभ-अशुभ राग की उत्पत्ति होती है। शुभराग भी है तो राग ही, वीतरागता तो नहीं है।

जिस पुरुषार्थ के फल में आत्मा की वृत्ति परज्ञेयों में परपना तथा स्वज्ञेय में अपनापन मानने लगे और पर की ओर से सिमटकर अपनी ओर जाने को उत्साहित हो; वही अनंतानुबंधी की क्षीणतारूप वीतरागता है। यही पुरुषार्थ मोक्ष का साधक है, अतः उपादेय भी है और सत्यार्थ पुरुषार्थ की पहिचान करने की वास्तविक कसौटी भी यही है।

जिस पुरुषार्थ के फल में वीतरागता के विपरीत रागांश की उत्पत्ति हो, मन जनित विकल्पों में ही वृत्ति उलझी रहे (फैलती रहे) आत्मा की ओर सिमटकर आने का प्रयास ही नहीं करती हो; ऐसा पुरुषार्थ तो शुभराग का ही उत्पादन कर, पुण्यबंध कर संसार ही बढ़ावेगा अबंधदशा प्राप्त नहीं करावेगा। यही पहिचान करने की वास्तविक कसौटी है।

रुचि कौन से गुण की पर्याय है ?

प्रश्न :– रुचि किस गुण की पर्याय है ?

उत्तर :– रुचि का तात्पर्य यहाँ श्रद्धा गुण की पर्याय से है। श्रद्धा गुण का कार्य है, अपनापन स्थापन करना अर्थात् अपना मानना है। ज्ञान का स्वभाव स्व एवं पर दोनों को जानना है। आत्मा में स्व-स्वामी संबंध नाम की ऐसी शक्ति, स्वभाव है कि वह स्व को ही स्व का स्वामी माने। इसप्रकार आत्मा का स्व अर्थात् सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व को अपना माने, यह उसका कार्य है। इसप्रकार आत्मा के श्रद्धा गुण अर्थात् रुचि का स्वाभाविक कार्य यह है कि वह अपने त्रिकालीज्ञायक ध्रुवतत्त्व को ही स्व के रूप में माने अर्थात् अपना अस्तित्व ध्रुव रूप माने। मोक्षमार्ग का प्रारंभ त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में अपनेपन की श्रद्धा से ही होता है।

प्रश्न :– ऐसी रुचि-श्रद्धा होने की पहिचान क्या है ?

उत्तर :– ऐसी रुचि का जन्म ही आत्मा के परिणमन में होता है। इसलिए उसकी पहचान भी परिणमन के पहिचानने से ही हो सकती है। अपने परिणमन को आत्मा स्वयं ही पहिचान सकता है, दूसरा नहीं जान सकता। इतना अवश्य है कि उसके परिणमन के साथ मन-वचन-काय के परिणमन का सहज स्वाभाविक

निमित्त-नैमित्तक संबंध होता है। अतः उसके मन-वचन-काय की क्रिया से परिणमन का अनुमान किया जा सकता है। लेकिन अनुमान करनेवाला भूल भी कर सकता है अथवा भ्रम भी हो सकता है। इसलिए अनुमान को वास्तविक रुचि का परिचायक लक्षण नहीं माना जा सकता।

प्रश्न :– हमको भी उसकी जानकारी होने से हम भी अपनी परिणति एवं रुचि की यथार्थता को पहिचान सकेंगे ?

उत्तर :– यह तो स्पष्ट हो चुका है कि रुचि-श्रद्धा का कार्य सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व रूप ही अपना अस्तित्व मानना है। ध्रुव ही मैं हूँ – ऐसी श्रद्धा होना है। ऐसी श्रद्धा के परिणमन को पहिचानने के लिए दृष्टान्त के रूप में अज्ञानी की विपरीत श्रद्धा के परिणमन से ही समझेंगे। श्रद्धा का कार्य तो अपनेपन की श्रद्धा करना है। अज्ञानी की श्रद्धा जो आत्मा नहीं है उसको स्व मान बैठी है, इसीलिए वह मिथ्यात्वी रह जाता है। अपनापन मानने का विषय तो दोनों का भिन्न-भिन्न है लेकिन श्रद्धा के कार्य में कोई अंतर नहीं है। अतः अज्ञानी के परिणमन से सम्यक्त्वी की श्रद्धा का परिणमन समझ में आ सकता है; क्योंकि वह परिचित है।

अज्ञानी ने जो आत्मा से अत्यन्त भिन्न पुद्गलजातीय शरीर है, उस को ही मैं के रूप में मान रखा है अर्थात् यह शरीर ही मैं हूँ और यह ही मेरा है, इसका अस्तित्व ही मेरा अस्तित्व है, इसका जन्म ही मेरा जन्म है, इसका मरण ही मेरा मरण है आदि-आदि अनेक प्रकार से श्रद्धा में शरीर में ही दृढ़ता के साथ मेरापना कर रखा है। उपरोक्त श्रद्धा बनाये रखने के लिये उसको न तो घोखना पड़ता है, न याद करना पड़ता है, न विचार, चिंतन, मनन करना पड़ता है तथा विकल्प उठाकर भी स्मृति में ताजा नहीं करना पड़ता। उपरोक्त कोई क्रिया

करे बिना भी वह मान्यता दृढ़तापूर्वक जमी रहती है।

अज्ञानी के उपरोक्त परिणमन के समान ही ज्ञानी की श्रद्धा का भी परिणमन होता है, लेकिन विषय विपरीत होता है। अज्ञानी ने तो आत्मा को भूलकर, पर ज्ञेयों में अपनापन माना हुआ है और ज्ञानी ने सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व अपना माना हुआ है। ज्ञानी परज्ञेय मात्र में परपने की श्रद्धा होने से उपेक्षणीय रहकर तन्मय नहीं होते अर्थात् एकत्व नहीं करते। इसप्रकार अज्ञानी के विपरीत ज्ञानी की श्रद्धा वर्तती है। अतः ज्ञानी मानता है कि ध्रुव आत्मतत्त्व ही मैं हूँ और यह आत्मा ही मेरा है। उसका कभी अभाव नहीं होता, अतः मेरा कभी मरण नहीं होता, जिसका मरण होता है, जन्म होता है वह मैं नहीं हूँ आदि-आदि अनेक प्रकारों से ध्रुव ही मैं के रूप में श्रद्धा में दृढ़ता के साथ जमा रहता है। उपरोक्त श्रद्धा बनाये रखने के लिये न तो घोखना पड़ता है, न याद करना पड़ता है और न श्रद्धा को टिकाये रखने के लिये विचार, चिंतन, मनन अथवा विकल्प करने पड़ते हैं; धारणा ज्ञान में से स्मृति में लाकर ताजा करके श्रद्धा को टिकाना भी नहीं पड़ता। कोई प्रक्रिया करे बिना भी श्रद्धा सहज रूप से निरंतर वर्तती रहती है। इसप्रकार अज्ञान दशा का परिणमन जो अज्ञानी के अनुभव वेदन में आ रहा है, उसके दृष्टान्त द्वारा ज्ञान दशा के परिणमन का अनुमान लगाकर निर्णय में तो ले ही सकते हैं। दृष्टान्त का उद्देश्य ही यह होता है कि उसके माध्यम से अपरिचित का परिचय कराना। दृष्टान्त परिचित होता है और दार्ष्टान्त अपरिचित होता है। इसलिए अज्ञान दशा के परिणमन द्वारा अननुभूत (अपरिचित) ऐसे ज्ञानी के परिणमन को हम भलीप्रकार समझ सकते हैं, पहचान सकते हैं।

अगर अज्ञानी की श्रद्धा के रहने का स्थान खोजना चाहें तो

वह भी नहीं मिलेगा, क्योंकि अज्ञानी ने अपनी अनित्य पर्याय में मिथ्यामान्यता खड़ी की है और पर्याय तो अनित्य स्वभावी है। जब भी अपनी मान्यता यथार्थ कर लेगा, उसीसमय यह अनित्य पर्याय में खड़ी की गई मान्यता भी व्यय होकर, सम्यक् श्रद्धारूप में उत्पाद हो जावेगा। इसलिए मिथ्या श्रद्धा का अभाव होकर सम्यक् होने के लिए मात्र एक समय ही लगेगा। लेकिन ज्ञानी की श्रद्धा का जन्म तो ध्रुव के आश्रय से होता है और ध्रुव तो नित्य स्वभावी होने से ज्ञानी की मान्यता भी नित्य रहती है।

अज्ञानी की पर्याय में जब तक विपरीत श्रद्धा रहेगी, तब तक तो परिणमन का वेदन (कार्य) अनुभव में अवश्य आवेगा। अतः अज्ञानी को भी अपनेपन की मान्यता श्रद्धा का वेदन तो अनुभव में आता ही है, इसके विपरीत ज्ञानी को भी श्रद्धा की स्वाभाविक परिणति अर्थात् सम्यक् श्रद्धा वर्तती रहती है और उसका वेदन-अनुभव भी उसको निरंतर आता ही रहता है।

ज्ञानी तो सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व को अपना मानने एवं अकर्ता ज्ञायकस्वभाव में अपनापन होने से निर्भररूपी निराकुल शांति का पान करते रहते हैं। इसके विपरीत अज्ञानी पर को अपना मानते हुए शरीर सहित सारे विश्व के कर्तृत्व के भार के कारण निरंतर आकुलित रहते हुए महान दुख का वेदन करते हैं। यही ज्ञानी की पहिचान है।

यह समझने का लाभ यह होगा कि आत्मार्थी अपने परिणमन द्वारा अपनी श्रद्धा एवं रुचि की यथार्थता को पहिचान सकेगा। निष्कर्ष यह है कि अज्ञानी को जिसप्रकार अपने शरीर के साथ एकत्वबुद्धि अर्थात् अपनापन वर्त रहा है। उससे विपरीत ज्ञानी को अपने सिद्धस्वभावी ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में एकत्वता पूर्वक, अपनेपन की श्रद्धा अर्थात् रुचि का परिणमन वर्तता है। यही मोक्षमार्ग प्रारंभ करनेवाली

श्रद्धा है और उसरूप परिणमन करने का पुरुषार्थ ही वास्तविक रुचि है।

अज्ञानी को शरीर के प्रति अपनेपन के संस्कार तो अनादि से चले आ रहे हैं, इसलिए वे तो सरल लगने लग गये हैं। अन्य कोई दूसरा स्व के रूप में ज्ञात नहीं हो रहा, इसलिये भी सरल हो गया है। अतः उसको ज्ञानी बनने का मार्ग अत्यन्त कठिन लगता है। ऐसे अज्ञानी को जब तक अपनी मान्यता भूल भरी होने का विश्वास नहीं जागृत होगा, यथार्थ मार्ग खोजेगा भी क्यों ? यथार्थ मार्ग खोजने की तीव्ररुचि जागृत हुये बिना खोजने का कार्य ही प्रारंभ नहीं होगा क्योंकि जबतक वर्तमान दशा दुखरूप नहीं लगे और सुख के खोजने की तीव्र पिपासा नहीं जगी हो तो अन्य मार्ग क्यें खोजेगा ? सुखी होने के उपायों की खोज के लिए सत्समागम, गुरु उपदेश आदि द्वारा यथार्थ मार्ग श्रवण कर, ग्रहण कर धारण करेगा, जिनवाणी का अध्ययन करेगा तथा यथार्थ मार्ग निर्धारण अर्थात् निर्णय करेगा। यह सब समझने की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही किया जाने वाला पुरुषार्थ है। ऐसे पुरुषार्थ में विचार भी होते हैं चिंतन-मनन भी होता है तथा इनमें विकल्प भी होते हैं। लेकिन ये सब विकल्प के लिए नहीं किये जाते; उनका उद्देश्य विकल्प करने का नहीं होता, वरन समझने की प्रक्रिया में विकल्प सहजरूप से हो जाते हैं उनका उद्देश्य तो मार्ग की अनिश्चितता दूर कर, एक निर्णय पर पहुँचना होता है। मार्ग निश्चित हो जाने पर तत्संबंधी विकल्प बिना प्रयास स्वयं शमन हो जाते हैं। इसलिए ज्ञानी बनने के लिए ऐसे विकल्पादि करने की भावना ही नहीं होती, मार्ग निश्चित हो जाने के बाद विकल्प तो आगे बढ़ने में बाधक ही है; साधक नहीं।

उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा यथार्थ मार्ग समझमें आकर निर्णय हो

जाने पर भी मोक्षमार्ग प्रारंभ नहीं हो जावेगा। मोक्षमार्ग का प्रारंभ तो अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ से ही होता है। और समझने व निर्णय करने का कार्य तो बहिर्लक्ष्यी इन्द्रियज्ञान में होता है। इसलिए उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा रुचि एवं परिणति की उग्रता व शुद्धता सहित जब आत्मलक्ष्यी ज्ञान द्वारा आत्म-अनुसंधान करेगा तब यह निर्णय तो कार्यरूप परिणमन में साधक होगा, लेकिन विकल्प नहीं। जैसी अपने शरीर के साथ एकत्वबुद्धि अर्थात् अपनेपने की श्रद्धा वर्त रही है, वैसी की वैसी ही सिद्धस्वभावी आत्मतत्त्व में अपनेपने की श्रद्धा वर्तने लगे और निराकुल सुख का अनुभव भी आने लगे तब समझना कि मेरी मान्यता मोक्षमार्ग के लिए यथार्थता को प्राप्त हो गई है। यही वास्तव में श्रद्धा एवं रुचि की यथार्थता की पहिचान है।

ज्ञानी के मन-वचन-काय के परिणमन

इतना अवश्य है कि ऐसे ज्ञानी की श्रद्धा के परिणमन के साथ मन-वचन-काय के परिणमन भी, उनकी योग्यता से सहज रूप से परिवर्तित होकर परिणमने लगते हैं। इसप्रकार का सहज वर्तनेवाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। ऐसा संबंध मिलाने का प्रयास नहीं करना पड़ता, यह तो वस्तु स्वातंत्र्य की सहज व्यवस्था है। जब कभी कोई कार्य बनता है तो पाँचों समवाय सहज स्वाभाविक मिलते ही मिलते हैं, मिलाने नहीं पड़ते। अतः मन-वचन-काय के परिणमन से भी यथार्थता को पहिचाना जा सकता है, लेकिन ऐसे परिणमन लक्षण नहीं माने जा सकते।

प्रश्न :– वे परिणमन किस प्रकार के होते हैं?

उत्तर :– इस विषय को भी अज्ञानी को वर्तनेवाले परिणमन के द्रष्टान्त द्वारा ही समझेंगे।

अज्ञानी को पर में एकत्व एवं कर्तृत्व की श्रद्धा प्रगाढ़ता पूर्वक

वर्तती है। फलस्वरूप पर में करने-धरने अर्थात् पर को अपने अनुकूल करने अथवा प्रतिकूलता हटाने तथा उनके करने भोगने आदि के विचार एवं विकल्प बिना प्रयास के भी सहज रूप से वर्तते रहते हैं, रोकने के प्रयास करने पर भी रुक नहीं पाते। भूतकाल के परिणमनों को स्मृति में लाकर निष्फल विकल्प अथवा भविष्य की कल्पनाओं संबंधी निरर्थक विचार विकल्प करता रहता है; उनके द्वारा अपनी कर्तृत्त्व, भोक्तृत्व की श्रद्धा को और भी दृढ़ करता है। अज्ञानी की इस प्रकार के मन की प्रवृत्ति वर्तती हुई देखी जाती है तथा स्वयं के अनुभव में भी आती है।

ज्ञानी के मन की प्रवृत्ति अज्ञानी से विपरीत प्रकार की वर्तती है। उसको आत्मा के ज्ञायक-अकर्तास्वभाव की श्रद्धा प्रगाढ़ता पूर्वक वर्तती है। फलस्वरूप उसके मनगत विचार-विकल्प आदि भी उसकी श्रद्धा के पोषक तथा दृढ़ करनेवाले होते हैं। उसको तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अतिरिक्त सबके प्रति अकर्तापने की श्रद्धा तथा ज्ञेय मात्र के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा वर्तती है। फलस्वरूप स्व का स्व के रूप में तथा पर का पर के रूप में ज्ञाता रहने से, स्व के साथ तन्मय होने के और पर के साथ अतन्मय वर्तते रहने के विचार एवं विकल्प बिना प्रयास के निरन्तर वर्तते रहते हैं। कदाचित् चारित्र की निर्बलता से अन्य प्रकार के विचारादि हो भी जाते हैं तो उनके प्रति उत्साहहीनता- उपेक्षाभाव होने से वे ज्यादा काल ठहरते नहीं और सहज ही स्वयं पलायमान हो जाते हैं। भूतकाल में भी आत्मा तो अकर्ता ज्ञायक ही था तथा भविष्य में भी अकर्ता ज्ञायक ही रहेगा। इसीप्रकार की श्रद्धा के पोषक विकल्प आदि होते रहते हैं।

ज्ञानी एवं अज्ञानी के उपरोक्त प्रकार के मनगत भावों का अन्तर भी इस तथ्य को सिद्ध करता है कि श्रद्धा के साथ मनगत

विचारों का सहज स्वाभाविक वर्तनेवाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता ही है, बनाना नहीं पड़ता।

ज्ञानी के उपरोक्त प्रकार के विकल्प आदि की स्थिति देखकर, अज्ञानी उसीप्रकार के विकल्प विचार आदि करने लगता है और ऐसा मान लेता है तथा कहता भी है कि ज्ञानी को भी ऐसे विकल्प होने पर ही तो आत्मानुभव होता है, अतः मुझे भी ऐसे ही करना चाहिए। ऐसा मानकर विपरीत श्रद्धा सहित एवं रुचि विहीन कर्तृत्व बुद्धि पूर्वक उपरोक्त प्रकार के विकल्प करने लगता है। अज्ञानी के ऐसे पुरुषार्थ का फल, पुण्य के साथ अनन्त संसार ही होता है।

जिसप्रकार मन संबंधी विचारों का श्रद्धा के साथ सहज वर्तने वाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध है उसीप्रकार वचनों का भी संबंध है। अज्ञानी के वचन भी, पर में कर्तृत्व के पोषक एवं उसी को पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले निकलते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी के वचन ज्ञेयमात्र के स्वतंत्र परिणमन के आधार पर, पर के अकर्तृत्व पोषक एवं आत्मा के ज्ञायक स्वभावीपने की श्रद्धा को दृढ़ करनेवाले निकलते हैं। ऐसा प्रयास नहीं करना पड़ता। यह तो श्रद्धा के साथ वचनों का सहज स्वाभाविक निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही है। ऐसा स्वयं हमको भी अनुभव में आता है।

इसीप्रकार शारीरिक क्रिया का भी श्रद्धा के साथ सहज वर्तने वाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जैसा अज्ञानी को शरीर में ही अपनापन होने से निरन्तर इसी के रक्षण-पोषण संबंधित काय की क्रियायें वर्तती रहती हैं। शरीर एवं पाँचों इन्द्रियों की पूर्ति के लिए व्यापार आदि में संलग्नता, बढ़िया मकान आदि शरीर की अनुकूलता, योग्य संयोग जुटाना, शरीर की रक्षा एवं बलिष्ठता के लिए अनेक भक्ष्य-अभक्ष्य आदि सेवन आदि के कार्यों में चेष्टायें वर्तती हैं। कितने

ही अज्ञानी धर्म के नाम पर शरीर से द्वेष बुद्धिपूर्वक हठ एवं कर्तृत्वबुद्धि से शरीर के शोषण कृष करने संबंधी अनेक प्रकार की क्रियायें करते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी को तो आत्मा के ज्ञायक-अकर्तास्वभाव में अपनापन होने से तथा काय संबंधी पुद्गल स्कंधों में परपने की श्रद्धा होने से उसके परिणमनों के प्रति अकर्ता रहते हुए वर्तता है और अज्ञानी से विपरीत आत्मा के भावों के ही रक्षण-पोषण करते रहने की क्रियाओं में वर्तता रहता है। लेकिन जब तक पूर्ण दशा न हो तब तक चारित्र संबंधी निर्बलता के कारण ज्ञानी भी स्व में तन्मय नहीं रह सकने से शरीरादि के प्रति आकर्षित हो जाता है। फिर भी श्रद्धा के बल से गृद्धतापूर्वक तन्मय नहीं होता; शीघ्र आत्मा की ओर परिवर्तित हो जाता है।

प्रश्न :– शरीर की क्रिया का आत्मा अकर्ता है; ऐसा मानने से तो ज्ञानी को स्वच्छन्दता हो जावेगी ?

उत्तर :– ऐसी शंका विवेक शून्य है, मोक्षमार्ग तो वीतरागता का पोषक ही होता है। इसलिए उसको स्वच्छन्दता होना संभव ही नहीं है। हमको यह अनुभव है कि शरीर की क्रिया होने के पहले आत्मा में करने के भाव पैदा होते हैं; तत्पश्चात् ही क्रिया सम्पन्न होती है। जैसे किसी ने किसी की हत्या कर दी हो तो क्या भाव उत्पन्न हुवे बिना ही हत्या हो जावेगी ? ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा कि भाव के बिना कोई क्रिया सम्पन्न की जाती हो। इसी प्रकार व्यसनादि सेवन की क्रिया भी भाव की गृद्धता के बिना नहीं की जाती, इसीप्रकार अभक्ष्यभक्षणादि की क्रिया भी लोलुपता के भाव होने पर ही होते देखी जाती है।

ज्ञानी के भावों में तो वीतरागता वर्तने के कारण स्वच्छन्दता संबंधी भाव ही उत्पन्न नहीं होते। भावों के बिना क्रिया होती नहीं।

इसप्रकार ज्ञानी को गृद्धता एवं लोलुपता के अभाव से सहजरूप से व्यसनादि सेवन एवं अभक्ष्यभक्षण आदि के भावों का अभाव होने से तत्संबंधी क्रिया होना सम्भव ही नहीं होता ज्ञानी को शरीरादि के प्रति परपना होने से उसके भाव भी सहज रूप से मर्यादित हो जाते हैं। उनकी मर्यादा चरणानुयोग के ग्रन्थों में बताइं गई है। ज्ञानी को भी शरीर संबंधी राग तो होता है, तदनुसार काय की क्रिया भी गुणस्थान के अनुसार होती है, लेकिन कोई भी काय की क्रिया मर्यादा का उल्लंघन करनेवाली नहीं होती। हमारा विषय वर्तमान में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक की रुचि एवं परिणति की यथार्थता पहचानने का है।

इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के काय संबंधी परिणमनों का भी आत्मा की श्रद्धा के साथ सहज रूप से वर्तनेवाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध वर्तता ही है। पं. श्री बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के निर्जरा द्वार श्लोक 41 में कहा है –

ज्ञानकला जिनके घट जागी, ते जग माँहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषय सुख माहीं, यह विपरीत संभवै नाहीं ।। ४१।।

ज्ञानी के उपरोक्त प्रकार के सहज वर्तने वाले निमित्त-नैमित्तिक संबंध के आधार पर ही जिनवाणी में सम्यक्ती के प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य – ऐसे चार व्यवहार लक्षण बताये हैं। मन-वचन-काय के परिवर्तनों को भी इन चार लक्षणों के अतिरिक्त व्यवहार इसीलिए कहा गया है कि अज्ञानी को भी कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक की गई क्रियाओं से भी लेश्या संबंधी कषाय की मंदतापूर्वक ऐसे लक्षण दिखने लगते हैं; इसलिए ये लक्षण वास्तविक अर्थात् निश्चय लक्षण नहीं हैं।

इसप्रकार आत्मा को उपरोक्त निश्चय परिणमन और उसके साथ सहज वर्तनेवाले व्यवहार परिणमनों से भी अपनी श्रद्धा एवं रुचि

की वास्तविकता को आत्मार्थी निश्चित रूप से पहचान सकता है और पहचानकर अपनी भूल अथवा कमी का अभाव कर ज्ञानी हो सकता है।

श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की एकता अनिवार्य क्यों ?

प्रश्न :– आगम का वचन है, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" जब आत्मा में भिन्न-भिन्न तीन गुण हैं और तीनों के स्वभाव भी भिन्न-भिन्न हैं, तो तीनों का एक साथ ही परिणमन होना अनिवार्य क्यों ?

उत्तर :– यह तो सत्य है, लेकिन मोक्षमार्ग का प्रारंभ तो तीनों की सम्यक्ता एक साथ होने पर ही होता है। अनादि से यह आत्मा इन गुणों की विपरीतता के कारण ही संसार परिभ्रमण कर रहा है। अतः इन गुणों के सम्यक् परिणमन होने से ही मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है और सम्यक्पना भी तीनों में एक साथ ही होता है।

वास्तव में पूरे द्रव्य का अभेद एक ही परिणमन होता है। अनंत गुणों का अभेद एक पिंड द्रव्य है, उसके परिणमन में अनंतगुण भी परिणम जाते हैं; इसप्रकार के परिणमन को मात्र समझने के लिये कथन गुण भेद द्वारा किया जाता है, लेकिन परिणमते सभी गुण अपने-अपने स्वभावानुसार हैं। सभी गुण अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमन करते हुवे सम्मिलित होकर आत्मा की पर्याय में एकरूप परिणम जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जब मोक्षमार्ग रूपी पर्याय प्रगट होती है तो अनंत गुण ही सम्यक् हो जाते हैं, मात्र श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही नहीं। इसी को जिनवाणी में "सर्वगुणांश सम्यक्" अर्थात् आत्मा के अनंत गुणों के अंश सम्यक् रूप हो जाते हैं – ऐसा कहा है। इसप्रकार "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" सूत्र की सिद्धि होती है एवं स्पष्ट होती है।

प्रश्न :– मोक्षमार्गी के तो अनंत गुण सम्यक् होकर अभेद हो गये, तब मात्र श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की एकता को ही मोक्षमार्ग क्यों कहा ?

उत्तर :– वास्तव में स्वरूप तो ऐसा ही है, लेकिन छद्मस्थ को न तो अनंत गुणों का ज्ञान है और न होना संभव भी है। तथा बहुत से गुण ऐसे भी हैं, जो कभी विकारी होते ही नहीं और न मोक्षमार्ग में साधक ही हैं, न बाधक ही हैं। मोक्षमार्ग में जो गुण मुख्य और प्रयोजनभूत हैं, उन तीन गुणों को मुख्य रख, उनके माध्यम से मोक्षमार्ग को समझाया जाता है।

प्रश्न :– इन तीनों को ही मुख्य और प्रयोजनभूत क्यों माना गया ?

उत्तर :– आत्मा के अनंत गुणों के अस्तित्व को प्रकाशित करने वाला अकेला ज्ञान गुण ही है; ज्ञान गुण का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक है। अतः यह एक ही ऐसा गुण है, जो स्व के साथ अनंत गुणों के अस्तित्व एवं परिणमनों को तथा अन्य सब द्रव्यों के गुणों एवं उनके परिणमनों को एक साथ ही प्रकाशित करता है। वास्तव में तो ज्ञानगुण के बिना आत्मा स्वयं एवं उसके अनंतगुण अंधे हैं। इसलिए ज्ञान गुण तो मुख्य और प्रयोजनभूत है ही, साथ ही मोक्षमार्ग में भी इसकी सर्वोपरिमुख्यता है। कारण हेय-उपादेय का ज्ञान एवं स्व-पर के निर्णय करने का कार्य भी इसी गुण का है। अपने साथ, समस्त विश्व को एक साथ जानकर भी स्व एवं पर का भेद करनेवाला भी ज्ञान ही है। इसप्रकार ज्ञेयों में से अपने ज्ञायकध्रुवतत्त्व को स्व के रूप में जानकर निर्णय करे तथा अन्य सबको पर जानकर परपने का निर्णय करे तो वह ज्ञान यथार्थ होने से मोक्षमार्ग का उत्पादक कारण बन जाता है। और यही ज्ञान यदि ध्रुव के अतिरिक्त

अन्य किसी को भी स्व जानने लगे और आस्रव-बंध-पुण्य-पाप आदि हेय भावों को उपादेय जानने लगे तो वही मोक्षमार्ग के विपरीत संसारमार्ग का कारण बन जावेगा। ज्ञान का इसप्रकार का विपरीत निर्णय ही श्रद्धा गुण एवं चारित्र गुण के मिथ्या परिणमन में कारण बन जावेगा। उपरोक्त सभी कारणों से आत्मा के अनंत गुणों में ज्ञानगुण मोक्षमार्ग के लिये मुख्य एवं प्रयोजनभूत सिद्ध होता है।

श्रद्धा गुण का कार्य है, 'अपना' मानना, अर्थात् उस रूप ही अपने आपको मानना। इस गुण का कार्य किसको स्व माना जावे, यह छाँटकर निर्णय करना नहीं है। स्व-पर के विभाग का कार्य तो ज्ञान गुण ही करता है। ज्ञान ने सबको जानकर, उनमें से जिस किसी को भी स्व के रूप में निर्णय कर लिया, श्रद्धा गुण उसी रूप अपने आपका अस्तित्व मानने लग जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान ने अगर ज्ञायकध्रुवतत्त्व को स्व के रूप में निर्णय किया, तो श्रद्धा उसी को स्व के रूप में स्वीकार कर लेगी और अगर ज्ञान अन्य ज्ञेय को स्व मान लेगा तो ऐसे विपरीत निर्णय को भी श्रद्धा स्वीकार कर लेगी अर्थात् पर को स्व मानने लग जावेगी। इसप्रकार अंधे के समान श्रद्धा उसी को अपने रूप में स्वीकार कर लेती है, लेकिन विश्वास (श्रद्धा) करना तो श्रद्धा गुण का ही कार्य है। श्रद्धा के अपनापन मान लेने का फल सम्पूर्ण आत्मा भोगती है। ऐसा महान शक्तिशाली श्रद्धागुण है। और यही कारण है कि इसको मोक्षमार्ग में मुख्य एवं प्रयोजनभूत माना है। मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी सम्यक् श्रद्धा से ही होता है और ज्ञान भी तभी सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

मोक्षमार्ग में चारित्र गुण का कार्य भी महत्त्वपूर्ण है। इसका स्वाभाविक परिणमन हुवे बिना, श्रद्धा एवं ज्ञान की यथार्थता का फल आत्मा को प्राप्त नहीं होता। चारित्र गुण का कार्य है, अपने में रमणता

करना – लीन होना – तन्मय होना आदि हुवे बिना अनन्त गुणों एवं अनाकुलता लक्षण सुख का लाभ (अनुभव) आत्मा को नहीं मिल सकता, इसलिये चारित्रगुण भी महत्त्वपूर्ण है।

इसप्रकार मोक्षमार्ग में उपरोक्त तीनों गुण मुख्य एवं प्रयोजनभूत होने से,जिनवाणी में अनंत गुणों में से इन तीन का मुख्य कथन है। मोक्षमार्ग में तीनों की एकता कैसे हो जाती है, इस पर तो पहले चर्चा कर चुके हैं। तीनों का उत्पाद एक साथ एक समय ही होता है इसलिए एकता होना तो स्वाभाविक है। इसप्रकार "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सूत्र की सार्थकता सिद्ध होती है।

सम्यग्दर्शन की प्रधानता क्यों ?

शंका :– जब तीनों गुण मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत हैं; तब सम्यक्श्रद्धा को ही प्रधानता क्यों दी जाती है ? ज्ञान का विपरीत निर्णय ही अधर्म का मूल उत्पादक है, अतः प्रधानता तो ज्ञान को होना चाहिये ?

समाधान :– यह बात तो सत्य है कि निर्णय करने का सामर्थ्य तो ज्ञान में ही है, लेकिन उस निर्णय की यथार्थता का प्रमाण तो श्रद्धा की स्वीकारता के साथ आनन्द की अनुभूति होना चाहिये ? सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् नहीं होते फलतः आत्मा का अनुभव भी नहीं होता।

शंका :– निर्णय तो ज्ञान ही करता है, अतः प्रामाणिकता का कार्य भी ज्ञान क्यों नहीं कर सकता ?

समाधान :– जिसप्रकार गणित के प्रश्न का उत्तर लिखनेवाला विद्यार्थी स्वयं तो निर्णय करता ही है कि मैंने उत्तर सही ही लिखा है; लेकिन उसकी प्रामाणिकता का प्रमाणपत्र देने का अधिकार तो परीक्षक को ही है। इसीप्रकार आत्मार्थी, जिनवाणी अध्ययन, गुरु

उपदेश, सत्समागम एवं चिंतन-मनन आदि द्वारा जो निर्णय करता है, वह यथार्थ मानते हुवे ही करता है; लेकिन उसका निर्णय यथार्थ है अथवा विपरीत है, यह कार्य वह नहीं कर सकता। यह तो आत्मानुभव के द्वारा ही प्रमाणित होता है।

प्रश्न :– श्रद्धा यथार्थ होने पर ज्ञान को कारण तो मानना चाहिये ?

उत्तर :– वास्तव में कारण-कार्य संबंध तो तत्-तत् पर्याय का उसी गुण के साथ होता है; ज्ञान गुण की पर्याय का श्रद्धा गुण की पर्याय के साथ संबंध बताना तो उपचार कथन है, व्यवहार कथन है। वास्तव में तो ज्ञान के सम्यक् होने का कारण तो ज्ञान की पूर्व पर्याय का व्यय है। श्रद्धा और ज्ञान की सम्यक्ता का जन्म एक ही साथ अपनी-अपनी योग्यतानुसार होता है।

प्रश्न :– श्रद्धा के सम्यक् होने में ज्ञान के यथार्थ निर्णय का योगदान तो मानना चाहिये ?

उत्तर :– वास्तव में तो आत्मा में सम्प्रदान नाम का गुण है, अतः पर्याय को योगदान तो उस गुण का ही है; दूसरे गुण का तो उसमें अभाव ही है, तो वह योगदान कैसे कर सकेगा ? नहीं कर सकता। वास्तविक स्थिति तो यह है कि श्रद्धा के सम्यक् होने में योगदान तो रुचि का क्रमशः बढ़ते रहना ही है। रुचि का जब से जन्म होता है, तब से मिथ्या मान्यता अर्थात् मिथ्या श्रद्धा का क्रमशः क्षीण होना प्रारंभ हो जाता है, वह क्षीणता क्रमशः बढ़ते-बढ़ते चरम दशा पर पहुँच जाती है, तब मिथ्या श्रद्धा की पर्याय का व्यय होकर, सम्यक् श्रद्धा का उत्पाद हो जाता है, लेकिन यथार्थ निर्णय के साथ रुचि का निमित्त-नैमित्तिक संबंध देखकर उपचार से कारण भी कह दिया जाता है। ऐसा कथन व्यवहार से किया गया है, क्योंकि दोनों की एक काल

प्रत्यासति है। विश्व में हर एक कार्य की उत्पत्ति पाँच समवायपूर्वक ही होती है, ऐसा वस्तुस्वरूप है। उन पाँच समवायों में एक निमित्त नाम का समवाय भी है; इसलिए कार्य की सम्पन्नता में उसकी अनिवार्यता भी असंदिग्ध रहती है, लेकिन वह हमको जुटानी नहीं पड़ती। यह तो विश्व की सहज स्वाभाविक व्यवस्था है। पाँच समवायों में 1– स्वभाव समवाय तो नित्य उपादान का सूचक है, 2– काल समवाय, स्वकाल का सूचक है, 3– पुरुषार्थ कार्य के संपादन योग्य बल-वीर्य का उत्थान है, 4– नियति अथवा भवितव्यता तो समर्थ उपादान क्षणिक, उपादनगत योग्यता का सूचक है; ये चारों समवाय तो कार्य रूप परिणमन करनेवाले द्रव्य में ही होते हैं। लेकिन पाँचवा निमित्त नाम का समवाय तो उपादान से भिन्न ही होता है; वह तो अन्य द्रव्य का तत्समय की योग्यतानुसार सहज रूप से वर्तनेवाला परिणमन है, जो कि उपादान के परिणमन में सहज रूप से अनुकूल पड़ जाता है। इसप्रकार निमित्त का उपादान रूपी द्रव्य के परिणमन के साथ सहज रूप से वर्तनेवाला, अनुकूल और अनुरूप होने मात्र का संबंध है। इसप्रकार की अनिवार्यता सहज रूप से वर्तनेवाली पूरे विश्व की व्यवस्था सिद्ध करती है, क्योंकि छहों द्रव्यों में होनेवाले कार्य, पाँच समवाय पूर्वक ही होते हैं। इसप्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में ज्ञान के यथार्थ निर्णय की अनिवार्यता भी सिद्ध होती है और स्वतंत्रता भी सिद्ध होती है।

श्रद्धा से परिणति का गठबंधन क्यों ?

सम्यक् श्रद्धा के साथ ही ज्ञान की भी सम्यक्ता का उत्पाद होता है। ज्ञान ने तो त्रिकाली ध्रुव तत्त्व ही मैं हूँ, ऐसा निर्णय किया तो श्रद्धा ने भी ज्ञान के निर्णय को स्वीकार कर, उसी में 'अहंपना' स्थापन कर लिया। इसप्रकार श्रद्धा की स्वीकृति के साथ ही, ज्ञान के

सम्यक्पने का भी प्रमाणीकरण हो गया। ऐसा होते ही, आत्मा के अनंतगुण स्वमुखापेक्षी वर्तन करने लग जाते हैं। क्योंकि सबका सामान्य स्वभाव तो अपने घर में आश्रय पाने का ही होता है। उन अनंत गुणों में चारित्र गुण भी है। चारित्र गुण का कार्य है, लीनता-तन्मयता-रमणता करना; अतः स्व में अपनापन आ जाने से चारित्र गुण भी आत्मा में तन्मयता करना प्रारंभ कर देता है। चारित्र की शुद्धता ही परिणति है; अतः श्रद्धा सम्यक् होते ही चारित्र गुण में भी तत् समय की योग्यतानुसार आंशिक शुद्धता प्रारंभ हो जाना अनिवार्य है। इसप्रकार सम्यक् श्रद्धा के साथ परिणति की शुद्धता का गठबंधन है।

आत्मा विकारी कैसे हो जाता है ?

प्रश्न :– आत्मद्रव्य का स्वभाव न तो विकार करना है और न विकारी रहना है। फिर भी विकारी होता हुआ क्यों दिख रहा है ?

उत्तर :– वास्तव में अज्ञानी को द्रव्यांश एवं पर्यायांश के भेदज्ञान के अभाव के कारण पर्यायांश में ही अपनापन होता है; फलतः पर्यायदृष्टि पूर्वक वर्तने से ज्ञान को आत्मा विकारी ही दिखता है, लेकिन जिस समय आत्मा विकारी दिखा, उसी समय द्रव्यांश तो निर्विकारी सिद्ध सदृश व्यक्त रहता है। ज्ञानी को अपने द्रव्यांश में अपनापन होने से द्रव्यदृष्टि वर्तती है, फलतः ध्रुव ही मुख्य हो जाता है। इसलिए द्रव्यदृष्टि पूर्वक ध्रुवांश जैसा ही आत्मा दिखता है; पर्यायांश विकारी रहते हुए भी ज्ञान में गौण रह जाता है, लेकिन अज्ञानी को तो उपरोक्त निर्णय होकर, विश्वास ही नहीं हुआ तो भेदज्ञान तो प्रगट ही कैसे होता ? इसकारण जब तक पर्यायसन्मुख ज्ञान वर्तता रहेगा, उसको आत्मा विकारी ही दिखता रहेगा।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय ऐसा नहीं निकालना चाहिये कि

आत्मा विकारी होता ही नहीं है, मात्र दिखता है। अगर वास्तव में आत्मा विकारी हुआ ही नहीं तो विकारी दिख नहीं सकता यह तो सामान्य बात है। अतः अज्ञानी जब तक भेदविज्ञान के अभाव में पर में अपनापन बनाये रखेगा, तब तक वास्तव में वह विकार का कर्ता है। तब तक उसका आत्मा विकारी रहेगा और विकारी ही दिखता रहेगा जैसा अनादिकाल से ज्ञात होता रहा है।

वास्तव में प्रमाणज्ञान के विषयभूत जीवद्रव्य की स्थिति ही ऐसी है कि परिणमन तो पूरे द्रव्य का होता है और वह द्रव्य अनंतगुणों का पिंड है, अतः द्रव्य के परिणमन में अनंतगुण परिणम ही जावेंगे। तात्पर्य यह है कि द्रव्य के एक समय के परिणमन में अनंतगुणों का परिणमन रहता है। उसके उस परिणमन को ही द्रव्य का कार्य अथवा पर्याय आदि अनेक नामों से जिनवाणी में कहा जाता है, लेकिन द्रव्य के उस परिणमन को समझने के लिए तथा भेदज्ञान के उद्देश्य से उसको पर्यायांश के नाम से सम्बोधन करते आये हैं। वास्तव में पर्यायरूप तो पूरा द्रव्य ही परिणमता है। उसके एक समय के पर्यायांश में एक ही समय अनन्त गुणों के परिणमन में जिस गुण के परिणमन में विकार हुवा है, वह भी सम्मिलित रहता है। इसलिए विकारी आत्मा दिखना अवश्यंभावी है। जब एक समय के परिणमन को समझने की एवं अभाव करने की चेष्टा की जाती है तो अलग-अलग गुणों की अपेक्षा से भेद करके समझने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय भी नहीं है। अतः समझनेवाले को हमेशा वास्तविक स्थिति श्रद्धा में वर्तते रहना चाहिये तब ही वह भेदज्ञान प्रगट कर, आत्मलाभ कर सकेगा।

प्रश्न :– विकार के ज्ञान से विकारी क्यों हो जावेगा ?

उत्तर :– वास्तव में जानने से विकार नहीं होता; लेकिन जानने के साथ अपनेपने की श्रद्धा का पृष्ठबल ही विकार में कारण बनता

है। जैसे कोई व्यक्ति किसी महिला के प्रति कामवासना की दृष्टि से देखता है और उसका भाई उसी को बहिन के रूप में देखता है, तो विचार कीजिये कि विकार के उत्पादन का कारण देखना माना जायेगा अथवा विकार का अभिप्राय माना जायेगा ? दंड का पात्र तो वही व्यक्ति होगा जिसके अभिप्राय में विकार हो। जानना और अभिप्राय दोनों साथ-साथ ही होते हैं। इसलिए स्पष्ट है कि विकारी अभिप्राय पूर्वक जाननेवाला ही अपराधी माना जाता है।

इसीप्रकार अज्ञानी का जानना भी एकत्व-ममत्व के अभिप्राय सहित होता है क्योंकि अनादि से उसको अपने ध्रुव स्वभाव का तो ज्ञान श्रद्धान ही नहीं है। इसलिए द्रव्यार्थिकनय का तो उदय ही नहीं हुआ, अतः ध्रुव को देखने की तो रुचि भी नहीं होती। फलतः उसका ज्ञान तो पर्यायांश की ओर ही वर्तता रहता है, साथ ही मिथ्या श्रद्धा भी पर्यायांश में वर्तती चली आ रही है। अतः वह अपना अस्तित्व पर्याय जैसा ही मानता चला आ रहा है। उसका जानना भी उसी अभिप्राय पूर्वक होता है। इसलिए आत्मा विकारी होता भी है व दिखता भी है।

आत्मार्थी विचारता है कि जो क्षण-क्षण में बदल जावे और अंत में अभाव हो जावे; वह अपना स्व मानने योग्य कैसे हो सकता है ? अगर मैं ऐसी पर्याय को अपना मानूँगा तो क्षण-क्षण में जन्म और मरण का दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए वास्तव में पर्याय में अपनापन मानना आत्मा का विपरीत अभिप्राय है।

पर्यायांश के जन्म-मरण होने पर भी, ध्रुव तो जन्मता भी नहीं और मरता भी नहीं; ध्रुवरूप विद्यमान रहता है। इसलिए वास्तव में ध्रुव में ही अपनापन अर्थात् उस रूप अपना अस्तित्व मानना यथार्थ अभिप्राय है। अतः ज्ञानी तो इसी अभिप्राय पूर्वक, पर्यायांश को पर मानता हुआ अपने ध्रुव में ही अपनापन मानता हुआ प्रवर्तता रहता है।

फलतः ज्ञानी को तो आत्मा सिद्ध सदृश दिखता है और साथ ही आत्मा के सभी गुण स्व-सन्मुख वर्तने लगते हैं और पर्याय गौण रह जाती है। ध्रुव की ओर अनंत गुणों सहित आत्मा परिणमने लग जाता है और उपयोग एकाग्र होकर आत्मानुभव कर लेता है। तथा चारित्र भी अपनी योग्यता से गुणस्थानानुसार वृद्धिकर आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उपरोक्त विषय को विशेष स्पष्ट करनेवाला समयसार की गाथा 344 की टीका का अंतिम पैरा महत्त्वपूर्ण है, वह निम्नप्रकार है:—

"इसलिए ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेद-विज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञान रूप ज्ञान परिणाम को करता है (अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिए उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना (अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्त्ता है) वह भी तब तक कि जब तक भेद विज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेद-विज्ञान से पूर्ण (अर्थात् भेद-विज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ (ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उस रूप ही परिणमित होता हुआ) मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।"

पं॰ जयचन्दजी छाबड़ा ने इसी विषय को भावार्थ में सरलता से स्पष्ट किया है :—

"आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय, अनादि काल से ज्ञेय और

ज्ञान के भेद-विज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप में जानता है, इसलिए इसप्रकार विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करने से कर्त्ता है; और जब भेद-विज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है तब विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ज्ञान परिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है।"

इसप्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विकार का उत्पादक तो आत्मा का अज्ञान ही है। अनादि से आत्मा ने अपने ध्रुवस्वभाव का, जो अनादि से अपने अस्तित्व के साथ ही वर्तता चला आ रहा है, उस रूप अपना अस्तित्व नहीं मानकर पर एवं पर्याय रूप अपना अस्तित्व माना है। ऐसा महान अज्ञान ही विकार का उत्पादक है, अन्य कोई नहीं। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा 371 की टीका के अन्त में स्वयं प्रश्न उठाकर समाधान दिया है कि रागादि की उत्पत्ति की खान मात्र जीव का अज्ञान ही है। वह इसप्रकार –

"**प्रश्न** :– यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है?

उत्तर :– किसी भी कारण से नहीं होता।

प्रश्न :– तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन-सी है?

उत्तर :– राग-द्वेष-मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम है (अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है।)"

इसप्रकार सभी प्रकार से सिद्ध होता है कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप की अजानकारी के कारण उत्पन्न हुई मिथ्यामान्यता ही विकार की उत्पत्ति का मूल कारण है। आत्मस्वरूप की यथार्थ जानकारी से उत्पन्न हुआ अपने आत्मा में अपनापन ही, अनादि अज्ञान के अभाव

करने का एकमात्र उपाय है।

सम्यक् मान्यता की श्रृंखला का प्रारम्भ कैसे ?

जैसे किसी अपरिचित कन्या को अपना बनाना हो, तो लोक में जो पद्धति अपनानी पड़ती है; वही पद्धति अपरिचित ऐसे अपने ज्ञायक तत्त्व को अपना मानने के लिए अपनानी होगी। यही आत्मा के खोज की वास्तविक पद्धति है; अन्य कोई पद्धति संभव नहीं है। जैसे किसी अविवाहित व्यक्ति को किसी बालिका से विवाह करके उसको अपना बनाना हो तो वह व्यक्ति सर्वप्रथम योग्य बालिका की खोज करेगा। अपरिचित बालिका के घर का पता पूछेगा, उसके माता-पिता आदि परिजनों के बाबत् जानकारी करेगा, बालिका के संबंध में सभी प्रकार से सघन जानकारी करेगा, क्योंकि अपरिचित में अपनापन स्थापित करना है, उसको अपना सर्वस्व सौंप देना है। अतः अनेक बालिकाओं में खोज करके, जिस बालिका के प्रति उसको सब प्रकार से विश्वास जाग्रत हो जावे कि अमुक बालिका को ही अपना बनाना सबप्रकार से सुरक्षित है। इतनी सघन जानकारी करने के पश्चात् सब तरफ फैली हुई अपनी बुद्धि अर्थात् रुचि को समेटकर, उस एक बालिका में सीमित कर यह दृढ़तम निर्णय कर लेगा कि मात्र इसी बालिका को अपना बनाना है। उपरोक्त प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसमें खोजने के प्रयास का पुरुषार्थ ही एक मात्र महत्त्वपूर्ण लगता है। लेकिन इस खोज के साथ ही अपना बनाने की आवश्यकता एवं रुचि जो अंतरंग में कार्यरत है जिस प्रेरणा से वह खोज करने में संलग्न हुआ है; उसका महत्त्व हमारी दृष्टि से बाहर ही रह जाता है, जो इस प्रक्रिया प्रारम्भ करने की जड़ (मूल) है। अगर किसी को अपना बनाने की अर्थात् विवाह करने की रुचि ही नहीं होती तो क्या

यह खोज प्रारंभ हो सकती थी ? खोज में जैसे-जैसे सफलता मिलती जाती है, वैसे-वैसे ही उसकी रुचि उग्र होती जाती है। अन्त में जब अपना निर्णय एक बालिका में पक्का कर लेता है तब जिन-जिन अन्य बालिकाओं को योग्य समझ रहा था, उन सब की ओर से रुचि समेटकर, मात्र निर्णीत बालिका से सम्बन्ध पक्का करने के लिए आतुर हो जाता है; इसप्रकार उस व्यक्ति की सगाई होने तक अन्तरंग रुचि बहुत बढ़ जाती है। उसके बाद, वह व्यक्ति जिन बालिकाओं में अनेक विशेषताएँ देख रहा था उनको अब याद भी नहीं करता, वरन् याद आ भी जाये तो उपेक्षा कर देता है। इसीप्रकार जिन माध्यमों से खोज की थी, उनको भी याद नहीं करता।

सगाई होने तक के वर्तनेवाले अन्तरंग पुरुषार्थ का प्रकार एवं सगाई हो जाने के पश्चात् विवाह होने तक के अन्तरंग में वर्तने वाले पुरुषार्थ के प्रकार का अन्तर समझने से बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो जावेगा।

विचार करने से समझ में आ जावेगा कि सगाई होने के पूर्व जो भी पुरुषार्थ चलता था, उसमें भी अन्तरंग की रुचि ही मुख्य थी। बाहर की प्रक्रिया वर्तते हुये तो अनेक-अनेक प्रकारों में हर क्षण बदलती जाती थी, लेकिन रुचि की श्रृंखला तो धारावाही रूप से एक ही प्रकार की चल रही थी। अज्ञानीजन तो बाहर की प्रक्रिया को ही मुख्य मानते हैं। अगर उस व्यक्ति की विवाह करने की रुचि ही नहीं होती तो क्या वह प्रक्रिया चल सकती ? इससे स्पष्ट है कि रुचि की जो श्रृंखला चलती रहती थी, उसी के फलस्वरूप सगाई तक पहुँचने की प्रक्रिया संपन्न हो सकी।

उपरोक्त दृष्टान्त का यह निष्कर्ष है कि खोज करने की प्रक्रिया में भी रुचि का पृष्ठबल ही मुख्य था; अगर वह किसी प्रकार शिथिल

पड़ जाती तो खोज का कार्य भी बंद हो जाता। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि आत्मार्थी को आत्मस्वरूप प्राप्त करने की खोज की श्रृंखला जो देशनालब्धि के काल (खोज करने की प्रक्रिया के काल में) चलती है, उसमें भी रुचि की श्रृंखला चलते रहने का पृष्ठबल ही कार्य करता है, वही वास्तविक निर्णय करने का पुरुषार्थ है। खोज करने के विषय तो परिवर्तित होते रहते हैं, लेकिन जो रुचि की श्रृंखला पूर्व पर्याय में थी उसका व्यय हो जाने पर भी बढ़ती हुई वही उत्तर पर्याय में अनवरत रूप से चलती रहती है। इस अपेक्षा से पूर्व पर्याय की रुचि को उत्तर पर्याय का कारण भी कहा गया है, मात्र खोज को नहीं। इसी श्रृंखला में रुचि की वृद्धि के साथ ही अन्य विषयों की ओर से आकर्षण का अभाव होते जाना ही परिणति की शुद्धता है। अतः परिणति का योगदान साथ ही चलता रहता है। जैसे अनेक कन्याओं में से मात्र एक ही कन्या की ओर आकर्षित होने में बाकी सभी कन्याओं की ओर से आकर्षण का अभाव होना कारण होता है। इतनी प्रक्रिया अन्तरंग में संपन्न हुये बिना आकर्षण का विषय मात्र एक ही कन्या में सीमित नहीं हो सकता।

इसीप्रकार आत्मार्थी को आत्मस्वरूप खोजने की रुचि तीव्रतापूर्वक जाग्रत होने पर ही, वह आत्मस्वरूप की खोजने का प्रयास करता है। उसके आकर्षण अर्थात् खोजने का मुख्य विषय तो त्रिकाली एकरूप रहने वाला आत्मस्वरूप है, उसी को खोजने में रुचि एवं प्रक्रिया दोनों साथ-साथ ही काम करती है। एक तो खोज करने के लिये द्रव्यश्रुत का अध्ययन, सद्गुरु का उपदेश, चिंतन-मनन सत्समागम आदि के द्वारा खोज करने की प्रक्रिया है। दूसरी अन्तरंग में वर्तनेवाली रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता है। दोनों कार्य श्रृंखलाबद्ध चलते रहते है; इस अपेक्षा से ही पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य के

व्यय को उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य का कारण कहा जाता है। अगर ऐसी श्रृंखला नहीं मानी जावे तो आत्मस्वरूप की प्राप्तिरूपी कार्य की सम्पन्नता ही संभव नहीं हो सकेगी। मुख्य तो यह है कि खोजने में विषय परिवर्तित होते रहने पर भी, क्रमशः बढ़ती हुई सफलता के द्वारा रुचि की उग्रता में जो रस बढता जाता है, वह ही क्रमशः बढता हुआ, उस श्रृंखला को चालू रखता है। इस प्रकार देशना द्वारा मार्ग की यथार्थता एवं स्पष्टता के साथ रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता ही सफलता का मुख्य कारण है। खोजने की प्रक्रिया तो ज्ञान में होती रहती है, स्वरूप भी समझ में आ जाता है; लेकिन रुचि के बिना खोजने में इसका फल श्रद्धा गुण में नहीं आता। श्रद्धा गुण में तो मिथ्यात्व की क्षीणता एवं साथ में वर्तनेवाली अनंतानुबंधी की क्षीणता, इसप्रकार दोनों की क्षीणता बढ़ते-बढ़ते अंत में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। क्रमशः बढ़ती हुई रुचि की श्रंखला से मिथ्यात्व की क्षीणता एवं परिणति की शुद्धता के द्वारा यह उपलब्धि प्राप्त होती है। इसप्रकार देशनालब्धि के काल से ही आत्मार्थीको जैसे-जैसे आत्मस्वरूप की समझ स्पष्ट होती जाती है तथा साथ-साथ रुचि की उग्रता अर्थात् स्व में एकत्व (अपनापन) करने की उग्रता बढ़ती जाती है। तथा पर (परज्ञेय) मात्र की निरर्थकता भासित होने से उनकी ओर का आकर्षण टूटने रूप परिणति की विशुद्धता बढ़ती जाती है। इसप्रकार तीनों कार्य एक साथ होने पर, आत्मा के सर्वगुण (अनन्तगुण) भी आत्मसन्मुख हो कार्यशील हो जाते हैं फलस्वरूप, निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त कर, निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है। यथार्थ मान्यता की श्रृंखला का फल, यह दशा प्राप्त करना है।

अन्तर्मुखी पुरुषार्थ प्रारम्भ

अन्तर्मुखी पुरुषार्थ प्रारम्भ होने के पूर्व

अभी तक के प्रकरणों में तो बाहर की ओर आकृष्ट अपनी परिणति (वृत्ति-रुचि-वीर्य) को समेटकर अन्तर्मुखी करने का मार्ग समझकर, अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर आकृष्ट करने का मार्ग समझने का था। समझने में मन (विकल्पादि) की मुख्यता रहती थी तथा रुचि भी उग्र हो जाती थी, उसमें शुभ राग भी होता था। अब आगे के प्रकरणों में जो मार्ग है उसमें, अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव तत्त्व में अपनापन आकर आकर्षण बना रहे, यह तो मुख्य रहेगा ही लेकिन समझने का कार्य अर्थात् मन द्वारा बुद्धि को फैलाने का कार्य गौण रहेगा, तथा परिणति को अन्य आकर्षणों का अभाव हो जाने से विकल्पों को भी आलबंन नहीं रहेगा। फलतः परिणति निर्विकल्प होकर आत्मानुभूति कर लेने के योग्य कैसे हो जावे इस विषयं में चर्चा मुख्य रहेगी। परज्ञेयों से परिणति सिमट जाने से विकल्प उत्पादन का मुख्य कारण तो रह ही नहीं जाता। इस कारण परिणति को निर्विकल्प हो जाने का मार्ग प्रशस्त हो जावेगा। फिर भी वृत्ति अगर बाहर की ओर खिसकने की कोशिश करे तो ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का परिणमन मानने के साथ ही मध्यस्थ बने रहना चाहिये। अपनी वृत्ति को अपने में ही संवृत (रोके रखना) रखने का अभ्यास करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अकर्ता ज्ञायक स्वभाव का आकर्षण ही परिणति को कहीं फँसने नहीं देगा और उपयोग निर्विकल्प होकर आत्मानन्द का स्वाद चखकर कृतकृत्य हो जावेगा।

ज्ञायक की खोज

उपरोक्त दशा प्राप्त आत्मार्थी जब अन्तर्मुखी परिणति करने

को उद्यत होता है तो परिणति को ज्ञायक तो मिलता ही नहीं, एकाग्र किसमें होवें ? इसलिए श्री गुरु से विनयपूर्वक प्रश्न करता है –

प्रश्न :– हे गुरुदेव ! मेरा ज्ञायक कहाँ मिलेगा ?

उत्तर :– हे भव्य ! तू विचार कर कि तेरे को जो यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है उसका ज्ञान किसमें हुआ ? इस प्रश्न की जानकारी आये बिना तूने यह प्रश्न उपस्थित कैसे किया ? अतः इसकी जानकारी जिस ज्ञान में हुई है, उसका स्वामी ही तो ज्ञायक है एक द्रव्य की पर्याय का द्रव्य के साथ तादात्म्य है, अतः ज्ञान का ज्ञायक के साथ तादात्म्य होता है। इसप्रकार प्रश्न की जानकारी के साथ ही तुझे तेरा ज्ञायक प्राप्त हो तो गया ? ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर-प्रकाशक होने से प्रश्न की जानकारी जिस ज्ञान पर्याय में हुई उसी पर्याय में उसके स्वामी की भी जानकारी हो गई। वह ज्ञायक ही तो तू है। ज्ञायक और तू (आत्मा) कोई भिन्न दो पदार्थ नहीं हैं। इसप्रकार तेरा ज्ञायक और तू दोनों एक ज्ञायक ही हैं। जानपना अनादि अनन्त ध्रुव बना रहता है; अतः ज्ञायक ही ध्रुव है और ध्रुव ही ज्ञायक है वही मैं हूँ वही मेरा अस्तित्व है। इतना स्पष्ट वस्तुस्वरूप होते हुए भी अज्ञानी को विश्वास नहीं आता और स्वरूप को स्वीकार नहीं करके (श्रद्धा नहीं करके) अपने ज्ञायक को बाहर ढूँढ़ता फिरता है। स्वयं तीन लोक का नाथ होते हुए भी विश्वास नहीं करके भिखारी बना रहकर संसार भ्रमण करता रहता है।

उपरोक्त जानन क्रिया में पर को जानने के लिए ज्ञान को पर के सन्मुख नहीं होना पड़ता, क्योंकि पर संबंधी ज्ञान भी तो आत्मा अपने क्षेत्र अर्थात् प्रदेशों में रहकर ही तो करता है। ऐसा आश्चर्यकारी ज्ञान का स्वभाव है कि आत्मा की ज्ञान पर्याय जो स्व क्षेत्र में परिणमती

है, वह पर्याय अपने को जानते समय स्वयं ही स्व एवं परज्ञेयों के आकार हो जाती है, जिनको ज्ञेयाकार भी कहते हैं। ज्ञानपर्याय जब स्वयं को जानती है तो वहाँ तो दोनों (स्व एवं पर) के ज्ञेयाकार उपस्थित रहते हैं, अतः दोनों को एक साथ जाने बिना रह नहीं सकती। तात्पर्य यह है कि स्व और पर दोनों ज्ञानपर्याय में एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं; अकेला एक ही नहीं। इसप्रकार ज्ञान की एक समयवर्ती पर्याय एक समय मात्र में स्व एवं पर को जान लेती है। स्व में तो अकेले अपने ज्ञायक का समावेश है उस के अतिरिक्त जाननेवाली पर्याय, एवं अनन्तगुणों का तथा परज्ञेय मात्र का पर में समावेश है। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता भी ज्ञायक है और ज्ञान भी ज्ञायक है तथा ज्ञेय भी ज्ञायक है, एक ही समय में तीनों अभेद हैं। लेकिन पर संबंधी ज्ञेयाकारों का ज्ञान पर के रूप में भासता है। ऐसा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी को निर्विकल्प आत्मानुभूति के समय प्रगट हो जाता है। अज्ञानी के भी ज्ञान का स्वभाव ऐसा होते हुए, पर्याय में प्रगटता नहीं होती, उसको तो मात्र पर का ज्ञान ही होता हुआ भासता है। अपने पर प्रकाशक ज्ञान के विषयों को ही स्व मानता रहता है। ऐसी परम्परा चलते रहने से ही संसार भ्रमण चल रहा है। ज्ञानी होते ही वह स्वज्ञेय को तो स्व जानकर एकत्व करता हुआ और परज्ञेयों को एकत्व रहित पर जानता हुआ वर्तता रहता है। फलतः संसार परिभ्रमण की परम्परा का अन्त हो जाता है।

प्रश्न :– जब हर समय ज्ञानी-अज्ञानी सबको ही स्व एवं पर दोनों के ज्ञेयाकार साथ ही उपस्थित रहते हैं तो अज्ञानी को स्व संबंधी ज्ञेयाकारों का ज्ञान होता हुआ क्यों नहीं दिखता ?

उत्तर :– क्षयोपशम ज्ञान धारक छद्मस्थ जीव के ज्ञानपर्याय

की ऐसी निर्बलता है कि वह एक समय में एक ही ज्ञेय की ओर एकाग्र हो सकती है। अज्ञानी को पर में ही अपनापन होने से उसका उपयोग उस ओर ही झुक जाता है, (एकाग्र हो जाता है) इसलिए स्व का ज्ञान हो कैसे ? प्राणी मात्र का सामान्य स्वभाव है कि जिसको अपना मान लेता है, आकर्षण का केन्द्र वह ही बना रहता है। इसी कारण अज्ञानी को पर का ज्ञान होता हुआ ही भासित होता है। स्व का तो उसको परिचय ही नहीं हुआ।

ऐसे अज्ञानी को जब सद्बुद्धि जाग्रत होकर अपने आपका अस्तित्व खोजने की भावना जाग्रत हो तो सद्गुरु का समागम प्राप्त कर जिनवाणी का रुचिपूर्वक, यथार्थ दृष्टि से अध्ययन करे और फिर आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ कर आत्मानुभूति प्रगट करे तो अपने स्वभाव (त्रिकाली ज्ञायक भाव) का परिचय हो, तब यह अज्ञानी भी ज्ञानी होकर स्व एवं पर की यथार्थ स्थिति का ज्ञान करते हुए स्वयं मोक्षमार्गी बन सकता है।

ज्ञायक को ज्ञानगुण की अपेक्षा आती है

वास्तव में द्रव्य तो अनन्त गुणों-शक्तियों का अभेद अखण्ड पिण्ड है। उसमें खण्ड या भेद नहीं है और हो भी नहीं सकते। ऐसे अभेद अखण्ड द्रव्य का परिणमन ही तो पर्याय है। परिणमन तो अनवरत रूप से होता ही रहता है। उसमें भी द्रव्य तो एक रूप ही दिखेगा। इसलिए उसको पहिचानने का लक्षण चिन्ह जानना चाहिए। आत्मा में अनन्त गुण एक साथ विद्यमान रहते हैं, लेकिन आत्मा को पहिचानने के लिए तो मात्र एक ही लक्षण बन सकेगा। अतः उन शक्तियों में से कोई ऐसी शक्ति खोजनी होगी जो आत्मद्रव्य में ही मिले अन्य में नहीं तथा आत्मा किसी समय भी उसके बिना नहीं रहे। ऐसे लक्षण द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। ऐसा लक्षण आचार्यों

ने ज्ञान को ही बताया है, यथा 'उपयोगो लक्षणम्'। इसलिए ज्ञायक शब्द का प्रयोग आत्मद्रव्य को पहिचानने के लक्षण रूप में भी जिनवाणी में किया है, मात्र ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं।

प्रश्न :– तब फिर राग (अनन्तानुबंधी राग) की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन है?

उत्तर :– राग-द्वेष-मोह जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं। (अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है); इसलिए वे राग-द्वेष-मोह विषयों में भी नहीं हैं, क्योंकि विषय परद्रव्य हैं और वे सम्यग्दृष्टि में नहीं होने से (वे आत्मा में) हैं ही नहीं।

समयसार का उपरोक्त कथन ज्ञानी की मुख्यता से किया गया है। ज्ञानी को द्रव्यदृष्टि प्रगट हो गई है, अतः उसे आत्मा ज्ञायक ही ज्ञान श्रद्धान में आ गया है तथा उसकी स्वाभाविक क्रिया ज्ञान है। अत ज्ञानी को तो (द्रव्यदृष्टि में) राग है ही नहीं। वे तो अज्ञान दशा में होते थे, अज्ञान का अभाव होने पर (मिथ्यात्व संबंधी राग) होते नहीं। अतः उनकी खान अज्ञान ही है। आत्मा (ज्ञायक) नहीं।

उपरोक्त कथन से मात्र इतना अभिप्राय लेना है कि मोहरागादि आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं; द्रव्य दृष्टि प्रगट कर उनका अभाव किया जा सकता है। लेकिन द्रव्य दृष्टि होने के पूर्व तो वे मेरी पर्याय में विद्यमान हैं और उनका कर्ता मैं ही हूँ। मेरे बर्हिलक्ष्यी ज्ञान में जब परपदार्थ ज्ञेय बनते हैं तो मैं उनमें एकत्व करने रूप संयोग कर लेता हूँ, फलतः उनका उत्पादन होता है। अब ज्ञायक में अपनत्व कर द्रव्य दृष्टि के द्वारा उनके साथ संयोग करना छोड़ दूँ तो उनका उत्पादन समाप्त हो सकेगा।

स्थिति ऐसी है कि आत्मा की प्रत्येक पर्याय का (विकारी-निर्विकारी सबका) स्वामी तो आत्मा ही है और वही उनका

कर्ता है। पर्यायें उसके कर्म (कार्य) हैं, अन्य द्रव्य नहीं। वही प्रमाण ज्ञान का विषय है। प्रथम ऐसा स्वीकार कर लेने के पश्चात् रागादि विभाव भावों का अभाव करने के लिए नयज्ञान का सम्यक् प्रयोग होता है। उसमें द्रव्यार्थिक नय का विषय तो त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व है, उसके अतिरिक्त अपनी सभी पर्यायों सहित सब कुछ पर्यायार्थिक नय के विषय होते हैं। उनमें से द्रव्यार्थिक नय के विषय में अपनापन (अहंबुद्धि) होने पर द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाती है। अज्ञानी पर्यायार्थिक नय के विषय ज्ञान में ज्ञात होते ही उनको अपनत्व बुद्धि (एकत्वबुद्धि) पूर्वक जानता है; (ज्ञानी को ज्ञायक में अपनत्व होने से उनको परत्वबुद्धिपूर्वक जानता है) फलतः अज्ञानी तो पर्याय दृष्टि होने से मोहरागादि (मिथ्यात्व एवं उसके सहित के रागादि) का उत्पादन करता है। ज्ञानी द्रव्य दृष्टिवंत होने से मिथ्यात्व सहित रागादि का उत्पादन नहीं करता, लेकिन उसको भी पूर्ण दशा होने तक भूमिकानुसार रागादि तो होते हैं तथा तत्संबंधी बंध भी होता है। यह वास्तविक स्थिति है। जिनवाणी का कथन भी है कि प्रमाणपूर्वक नय का जन्म होता है। तात्पर्य यह है कि प्रथम विकार का कर्तृत्व स्वीकार करने के पश्चात् सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा उसका अभाव होना ज्ञायक के साथ एकत्वबुद्धि प्रगट करना है। ज्ञायक के साथ अपनत्व होते ही, जानन क्रिया जो कि आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है और उसका ज्ञायक के साथ तादात्म्य है, उसके द्वारा भी ज्ञायक में अपनत्व आ जाता है, फलतः रागादि के साथ एकत्व नहीं हो पाता।

इसप्रकार अज्ञानी भी मार्ग ग्रहण कर आत्मा को ज्ञायक स्वभावी स्वीकार कर, अपनी मिथ्या मान्यता को तिलांजलि देकर ज्ञानी हो जाता है। आत्मा को आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञान क्रिया का

उत्पादक स्वीकार कर और दर्शन मोह का नाश करने का मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

उपरोक्त प्रकार की शल्य निकल जाने के बाद ऐसे आत्मार्थी को यह विश्वास जाग्रत होता है कि वास्तव में ज्ञान ही चेतन द्रव्य है, और चेतन द्रव्य (ज्ञायक द्रव्य आत्मा) के गुण (शक्तियाँ सामर्थ्य) वे सब चेतन के विशेषण हैं तथा चेतन द्रव्य का परिणमन अर्थात् जाननरूप अनादि-अनन्त वर्तनेवाली (परिणति) क्रिया ही उस चेतन द्रव्य की पर्यायें हैं। तात्पर्य यह है कि चेतन द्रव्य की चेतना रूप (जानन रूप) क्रिया में तथा उसके गुणों में भी एकमात्र वह चेतन रूप द्रव्य ही तो विद्यमान रहता है अर्थात् प्रवाहित रहता है।

इसप्रकार गुण भेदों एवं पर्यायों की अनेकतायें विद्यमान रहते हुए भी अपनापन अकेले एक चेतन में ही सिमटकर आ जाता है, ऐसी दृष्टि में गुणभेद-पर्यायभेद रहते हुए भी स्वतः निरस्त अर्थात् गौण रह जाते हैं; और अकेला वह चेतन ही ज्ञान श्रद्धान का विषय बन जाने से विकल्प भी निरस्त होकर, निर्विकल्प हो जाता है एवं ज्ञानी हो जाता है। ऐसी अभेद द्रव्य की दृष्टि ही द्रव्यदृष्टि है।

आत्मा के अनन्त गुणों में स्व के साथ पर (लोकालोक) को जानने की सामर्थ्य एक ज्ञानगुण में ही है, अन्य में नहीं और आत्मा के अतिरिक्त के समस्त अन्य द्रव्य भी जगत में विद्यमान हैं उनकी सिद्धि भी ज्ञान से ही होती है। आत्मा में बसे अनन्त गुणों (सामर्थ्यों) का अस्तित्व भी ज्ञान से ही ज्ञात होता है। ज्ञान के बिना अन्य कोई गुण न

तो अपने आपको जानते हैं और न किसी अन्य गुण को भी जानते हैं। आत्मा में चेतनपना ही ज्ञान है। चेतन ही जीव और चेतनपना भी जीव अर्थात् ज्ञान ही चेतन है और चेतन ही आत्मा है।

जीव का जीवत्व अर्थात् चेतनपना भिन्न-भिन्न कहे जाने पर भी एकार्थवाची हैं। समयसार ग्रन्थ के परिशिष्ट में वर्णित 47 शक्तियों के प्रकरण में एक चेतन के ही भेद कर चार शक्तियाँ बताईं हैं।

1॰जीवत्व शक्ति - आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव को धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी जीवत्व शक्ति है।

2॰ चिति शक्ति – अजड़त्व स्वरूप चिति शक्ति।

3॰ दर्शन शक्ति – अनाकार उपयोगमयी दर्शन शक्ति।

4॰ ज्ञान शक्ति – साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्ति।

इसप्रकार एक चेतन (आत्मा) को ही सिद्ध करने के लिए तथा पहिचानने के लिए चारों शक्तियों का वर्णन किया है। पहली शक्ति अस्ति की मुख्यता से, दूसरी शक्ति नास्ति की मुख्यता से तथा तीसरी व चौथी शक्ति उपयोग की मुख्यता से है। सर्व पदार्थ (ज्ञेय) सामान्य विशेषात्मक होते हैं, अतः सामान्य भाव को अवलोकन क्रिया दर्शन शक्ति एवं विशेष भावों को जानने वाली क्रिया ज्ञान शक्ति। इसप्रकार चारों शक्तियाँ एक चेतन द्रव्य ही हैं। वास्तव में ज्ञान-दर्शन दोनों ही चेतना के भेद हैं। लेकिन आत्मा का परिचय कराने के एवं अनुभव करने में ज्ञानोपयोग ही मुख्य रहता है, क्योंकि दर्शनोपयोग में तो सामान्य के अवलोकन रूप होने से भेद ज्ञान नहीं बन पाता। वह तो ज्ञान के माध्यम से ही हो पाता है। अतः सब प्रकार से अनन्त गुणों में ज्ञान गुण ही प्रधान है। मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए भी ज्ञान

ही मुख्य एवं प्रयोजन भूत है। जिनवाणी में ज्ञान शब्द का प्रयोग मात्र, ज्ञान गुण अथवा पर्याय के लिए ही नहीं किया जाता। ज्ञान शब्द का प्रयोग प्रयोजन की मुख्यता से अनेक अभिप्रायों को व्यक्त करता है सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान, मतिज्ञान आदि पाँच भेद ज्ञानी-अज्ञानी आदि। इसीप्रकार एक चेतन द्रव्य (आत्मद्रव्य) को ही कहीं चेतन अथवा आत्मा-ज्ञायक-ज्ञान-त्रिकालीभाव ध्रुवभाव ज्ञायकभाव सामान्य भाव आदि अनेक शब्दों से किया गया है। आत्मार्थी को यह ध्यान रखकर अध्ययन के समय यथास्थान, यथायोग्य अर्थ (अभिप्राय) ग्रहण करना चाहिए।

इसप्रकार यहाँ ज्ञायक शब्द से ज्ञानक्रिया का स्वामी ऐसे ज्ञान गुण को बतलाना नहीं है, वरन् चेतन द्रव्य ऐसे भगवान आत्मा को बताना है। अनन्त गुणों में ज्ञान में ही ऐसी विशेषता है कि वह ज्ञान पर्याय को तथा ज्ञान गुण के साथ-साथ अनन्त गुणों को जानते हुए उसके स्वामी ऐसे चेतनद्रव्य को भी जानता है। स्व एवं पर का विभाजन भी ज्ञान से ही होता है। इसप्रकार अनन्त गुणों में ज्ञान गुण का कार्य मुख्य है।

अनन्तगुणों में से ज्ञान अकेले ज्ञान में एकाग्र कैसे हो ?

वस्तु स्वरूप ही भेदाभेदात्मक है, अतः भेदों का अस्तित्व तो अनिवार्य है और ज्ञान का स्वभाव भी जानना है अतः भेद-अभेद दोनों का ज्ञान में ज्ञात होना भी अनिवार्य है। लेकिन भेदों के रहते हुए अभेदता भी तो विद्यमान है, उसको ढूँढ़ निकालने की सामर्थ्य भी ज्ञान में ही है। अतः ज्ञान की कार्यशीलता समझने पर उपरोक्त विषय स्पष्ट समझ में आ सकता है।

आत्मार्थी जब अन्तर्मुखी पुरुषार्थ के लिए उद्यत होता है तो

उसकी दृष्टि (परिणति) एकमात्र अपने त्रिकाली-ज्ञायक-ध्रुवभाव जो कि अभेद अखण्ड है उसकी खोज में व्यस्त रहती है। उस समय अनन्त गुण ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी अपनापन स्थापन करने के लिए आत्मार्थी की दृष्टि उन में नहीं अटककर (रुककर) छेदतीं-भेदती हुई (गौण करती हुई) अभेदता की ओर लक्षित रहती है। अतः गुण भेद रहते हुए भी एवं ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी आत्मार्थी को बाधक नहीं बनते। लेकिन अगर वह अपने ध्येय से च्युत होकर भेदों के विश्लेषण में रुक जावे तो वे भेद ही आत्मानुभव के लिए बाधक सिद्ध होंगे।

उपरोक्त प्रकार के पुरुषार्थ में संलग्न आत्मार्थी की परिणति पर की ओर से व्यावृत्य होकर अन्तर्मुखी कार्य करती है, उस समय इन्द्रिय विषयों की ओर से विमुख रहती है फिर भी मन का कार्य तो विद्यमान रहता है। लेकिन आत्मार्थी की दृष्टि तो ध्रुव में केन्द्रित रहने से उसको मन भी बाधक नहीं होता अपितु उसका संबंध भी टूटता हुआ अंत में अभाव होकर आत्मानुभूति हो जाती है।

इन्द्रियज्ञान का विषय तो पर होता है, अतः अन्तर्मुखी पुरुषार्थ में जब तक मन का सम्बन्ध जीवित रहेगा (विद्यमान रहेगा) तब तक विकल्प भी रहेंगे, फलतः आत्मानुभव भी नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि जब तक ज्ञान के सम्मुख विषय दो (द्वैत) रहेंगे और अकेला ध्रुव नहीं रह जावेगा, तब तक मन का सम्बन्ध भी रहेगा एवं विकल्प भी उत्पन्न होगा। अतः भेद विकल्प जब तक विद्यमान रहेंगे तब तक कार्यसिद्धि नहीं हो सकेगी।

अन्तर्मुखी पुरुषार्थ के काल में, मन का कार्य भी स्वतः (सूक्ष्म) सीमित होता जाता है। संसार सम्बन्धी विषयों की ओर तो मन का जाना रुक ही जाता है, अब तो विकल्पों की मर्यादा मात्र आत्मसंबंधी

ही रह जाती है। आत्मसंबंधी अनेकताओं में से भी किसी एकता को अर्थात् अभेदता, अखण्डता को खोजने में ही परिणति लगी रहती है अर्थात् विकल्प भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं मर्यादित होते जाते हैं। अन्ततः जब उसका विषय मात्र एक अभेद-अखण्ड रह जाता है तो द्वैत ही समाप्त होकर श्रद्धा उसी में एकत्व कर लेती है और ज्ञान भी उसमें एकाग्र होते ही, आत्मा की परिणति अनन्त गुणों को साथ लेकर चारित्र अपेक्षा भी आंशिक लीन होकर अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में संलग्न हो जाती है। इसी को आत्मानुभव स्वसंवेदनज्ञान आदि अनेक नामों में कहा जाता है। इस स्थिति में पहुँचते ही मन तो बाहर ही रह जाता है, (मरण को प्राप्त हो जाता है) क्योंकि मन का विषय तो पर ही था वह उस काल रहा नहीं। अतः उतने काल तक निश्चेष्ट रहता है। इसप्रकार भेद विकल्प निरस्त हो जाते हैं।

गुण भेदों में भी अभेदता कैसे ?

अस्तित्व अर्थात् सत्ता वाला पदार्थ तो द्रव्य ही है। यथा 'सत्द्रव्यलक्षणम्' तात्पर्य यह है कि सत्ता तो अखण्ड द्रव्य की ही है, उसी द्रव्य की सामर्थ्यों (विशेषणों) का नाम ही गुण-शक्ति आदि अनेक हैं। उन सामर्थ्यों का समुदाय ही तो द्रव्य है, सामर्थ्यों के बिना वस्तु का अस्तित्व ही नहीं होता। अस्तित्व द्रव्य का होता है, अतः द्रव्य के अस्तित्व में ही गुणों-सामर्थ्यों का अस्तित्व भी अन्तर्गर्भित है। इसप्रकार वस्तु स्वरूप ही अभेद है। उसे अभेद बनाना नहीं है। मात्र समझना है व समझकर विश्वास में लाना है। द्रव्य की सामर्थ्यों को समझने के लिए, भेद करके समझाया जाता है। सभी गुणों की सामर्थ्य तो अपनी-अपनी स्वतंत्र होने से, किसी एक शक्ति का कार्य दूसरी शक्ति नहीं कर सकती, लेकिन इससे उनकी सत्ता द्रव्य के समान स्वतंत्र

भी नहीं है। मात्र शक्ति की स्वतंत्रता है। अतः वस्तु तो वास्तव में अभेद ही है। इस सिद्धान्त को विश्वास में लाकर विषय को समझने से भेदरूप व्यवहार निरस्त होकर; भेदों के विद्यमान रहते हुए भी आत्मानुभूति में बाधक नहीं होते, सहजरूप से भेदों से अतिक्रान्त हो जाता है।

इसीप्रकार पर्याय के परिणमन की स्थिति है। द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते हैं। यथा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' इसप्रकार परिणमन तो अभेद-अखण्ड-अनन्त गुण धारक द्रव्य का सम्मिलित एक ही होता है; इसप्रकार हर एक समय परिणमन करता हुआ अखण्ड-अभेद द्रव्य ही अनन्त काल तक परिणमता रहता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य की सामर्थ्यों की प्रगटता को गु ों की पर्याय कहकर भी द्रव्य की सामर्थ्यों की प्रगटता को ही समझाया जाता है। परिणमन तो द्रव्य का अभेद-अखण्ड एक ही होता है, उस ही में अनन्त गुणों के सामर्थ्य (रूप) सम्मिलित रहते हैं। अनन्त शक्तियों के कार्यों का स्वाद भी सम्मिलित होकर एक ही अनुभव में आता है। इसप्रकार अनन्त गुणों का स्वाद (अनुभव) भी अभेद एक ही होता है। इसीकारण आत्मानुभव के काल में द्वैत का अभाव रहने से अनुभव में निर्विकल्प दशा ही रहती है और अतीन्द्रिय आनन्द अर्थात् सिद्ध भगवान को पूर्ण प्रगट ऐसे आनन्द का आंशिक अनुभव, वेदन आत्मार्थी को प्राप्त हो जाता है। अनन्त संसार का अभाव होकर ज्ञानी बन जाता है। ज्ञान भी स्व-पर-प्रकाशक होकर सम्यग्ज्ञान हो जाता है, आदि-आदि अनन्त गुणों के सम्यक् परिणमन हो जाने से, परिणति में भी ज्ञानधारा प्रवाहित होने लगती है। फलतः निरन्तर सहज रूप से भेदज्ञान वर्तता रहता है। विशेष क्या कहा जावे, ऐसा आत्मार्थी मोक्षमार्गी अन्तरात्मा हो

जाने से भावी सिद्धों की टोली में सम्मिलित हो जाता है।

ज्ञान द्वारा अनन्त गुणों की अभेदता

ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर-प्रकाशक है, अतः स्व में स्थित अर्थात् अनन्त सामर्थ्यों शक्तियों का ज्ञान तो ज्ञान की स्व प्रकाशता का प्रमाण है; जब ज्ञान द्रव्य को जानेगा तो आत्मा के अभिन्न अंग ऐसे अनन्त गुणों को भी जानेगा। यदि नहीं जाने तो ज्ञान के स्व प्रकाशक ज्ञान का विषय ही क्या रहेगा ? तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने विषय (अपने आत्मा को) द्रव्य-गुण पर्याय सहित जाने । अतः ज्ञान में अनन्त गुण अपनी-अपनी सामर्थ्यों सहित, द्रव्य में अभेद रहते हुए एक ही पर्याय में प्रगट होकर, एक ही समय में ज्ञान में स्पष्ट भासते हैं। समयसार परिशिष्ट में 47 शक्तियों के पूर्व आचार्यश्री ने (पृष्ठ 668-669) में उपरोक्त विषय का निम्नप्रकार समर्थन किया है –

" ज्ञान मात्र में अचलितपने से स्थापित दृष्टि के द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान तद्अविनाभूत (ज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाला) अनन्त धर्म समूह जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह सब वास्तव में एक आत्मा है।"

इसी कारण से यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रता से व्यपदेश है।

"प्रश्न :– जिसके क्रम (पर्यायें) और अक्रम (गुण) से प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रता किसप्रकार है ?

उत्तर :– परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय रूप से परिणत एक ज्ञप्ति मात्र भावरूप से स्वयं ही है, इसलिए (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणमित जो एक जाननक्रिया

है उस जाननक्रिया मात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिए) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसीलिए उसके ज्ञानमात्र एक भाव की अन्तःपातिनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। (आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको लक्षण भेद से भेद होने पर भी प्रदेश भेद नहीं है; आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन रहता है। इसलिए आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिए ज्ञानमात्र भाव में – ज्ञानमात्र भाव स्वरूप आत्मा में – अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिए ज्ञान भाव में – ज्ञानमात्र भाव स्वरूप आत्मा में – अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।)"

उपरोक्त कथन से आचार्यश्री ने गुण भेदों के विकल्प को तो निरस्त किया ही है, साथ ही द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे तीन भेदों के विकल्पों को भी निरस्त कर दिया है। वास्तव में गुण स्वरूप भी आत्मा ही है तथा पर्याय स्वरूप भी आत्मा ही है; क्योंकि एक समयवर्ती पर्याय में जो भी परिणमा है, वह अनन्त गुणों सहित आत्मा ही तो परिणमा है, इसलिए वह परिणमन स्वयं अभेद है। इसप्रकार आत्मद्रव्य ही ज्ञान है, आत्मा के अनन्त गुणों का समुदाय भी ज्ञान है एवं ऐसे आत्मद्रव्य का परिणमन वह भी ज्ञान ही है। ऐसा वस्तुस्वरूप होने से इनमें भेद करना एक क्लिष्ट कल्पना है, मिथ्या है। ऐसा होने पर भी समझने - समझाने के उद्देश्य से द्रव्य की सामर्थ्यों को भेद करके कहा जाता है, इसलिए ऐसे प्रकरण को भेदरूप व्यवहार कहा गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कथन करा जावे वह व्यवहार संज्ञा पाता है, लेकिन यदि वस्तु स्वरूप ही भेदरूप मानकर ऐसी प्ररूपणा की जावे तो ऐसा कथन व्यवहार संज्ञा प्राप्त नहीं करता, वह तो मिथ्या प्ररूपणा है, अतः वस्तु को भेदरूप मानना तो मिथ्या ही है।

ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद भी नहीं रहता

आत्मानुभव के लिए ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद विकल्प भी बाधक है। वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक एक ही है, अतः द्रव्यरूप भी आत्मा है, गुणरूप भी आत्मा है तथा पर्यायरूप भी वही आत्मा है – इसप्रकार ज्ञान पर्याय भी आत्मा ही है। आत्मा की पर्याय ने ज्ञानगुण के द्वारा, ज्ञान को ही (आत्मा को ही) जाना। अतः स्पष्ट है कि वस्तु में भेद नहीं होते हुए भी, स्वरूप समझने के लिए भेद करके समझा जाता है कि आत्मा की ज्ञान पर्याय ने, ज्ञान गुण के द्वारा अपने ज्ञायक को जाना।

स्वप्रकाशक ज्ञान के सन्मुख अनुभव के समय ज्ञान का विषय (ज्ञेय) अद्वैत ही रहता है, क्योंकि जाननेवाला अपनी ही सामर्थ्य द्वारा, अपनी ही पर्याय में अपने आपको ही जानता है; इसप्रकार द्वैत उद्भव ही नहीं होता, फलतः विकल्प नहीं रहने से निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय निराकुल आनन्द की प्रगटता हो जाती है, लेकिन ज्ञानी को भी परप्रकाशक ज्ञान के समय तो ज्ञान का विषय पर होने से, स्व और पर के रूप में द्वैत का सद्भाव हो जाता है, अतः राग एवं आकुलता का उत्पाद होता है। इसलिए आत्मार्थी को पर के जानने की रुचि का भी सद्भाव संसार का उच्छेद नहीं होने देगा। पर के जानने के प्रति उत्साह नहीं रहना चाहिए, अपितु ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए कि आत्मा तो अकर्तास्वभावी है तथा समस्त परज्ञेय अपनी-अपनी सत्ता रखने वाले हैं एवं अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमन कर रहे हैं। मेरे जानने से न तो उन पदार्थों को कुछ लाभ है और न ही मुझे कुछ लाभ है आदि-आदि विचारों द्वारा ज्ञेय मात्र को जानने का उत्साह भी निवृत्त हो जाना चाहिए।

तात्पर्य

उपरोक्त समस्त चर्चा ऐसे आत्मार्थी के लिए ही कार्यकारी होगी, जिसने दर्शनमोह का अभाव करके आत्मानुभव कर ज्ञानी बनने के लिए कमर कस ली हो। अर्थात् दृढ़ संकल्प कर लिया हो। प्रवचनसार गाथा 79 की टीका के अन्त में कहा भी है – 'इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कस ली है।' आगे लिखा है कि 'अब वह (आत्मार्थी) उपाय सोचता है कि मुझे मोह की सेना कैसे जीतना चाहिए' इसप्रकार उपरोक्त प्रकार के दृढ़ निश्चयी आत्मार्थी के लिए ही आचार्यश्री ने गाथा 80 की रचना की है। उपरोक्त गाथा के तात्पर्य को समझकर तदनुसार परिणमन करके मोह का नाश करने का उद्यत आत्मार्थी की पूर्व भूमिका (पात्रता) कैसी होनी चाहिए – इसकी पूर्ति के लिए अभी तक चर्चा केन्द्रित रही है।

उक्त आत्मार्थी उग्र रुचि के साथ, उपरोक्त चर्चा को अपने क्षयोपशम विकल्पात्मक परलक्ष्यी ज्ञान द्वारा पूर्ण रूप से समझकर, तदनुसार अपनी परिणति को सब ओर से समेटकर, आत्मलक्ष्यी कर, अन्तर्मुखी होने को कमर कस के तैयार हुआ है। ऐसे आत्मार्थी को दर्शनमोह के नाश करने का उपाय आचार्यश्री ने गाथा 80 में ही बताया है। विषय महत्त्वपूर्ण होने से उस पर आचार्यश्री अमृतचन्द्र एवं आचार्यश्री जयसेन दोनों ने ही गवेषणापूर्ण संक्षिप्त व सरल मार्ग बतानेवाली टीकायें लिखीं हैं; उनमें से आचार्य अमृतचन्द्र की टीका का अविकल अनुवाद यहाँ उद्धृत करके आगे उस पर चर्चा करेंगे।

निर्विकल्पता के उपाय

प्रवचनसार गाथा ८० की टीका

उस टीका का प्रथम चरण निम्नप्रकार है –

"**टीका** – जो वास्तव में अरहंत को द्रव्य रूप से, गुण रूप से और पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है, क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है और अरहंत का स्वरूप अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति, परिस्पष्ट (सर्वप्रकार से स्पष्ट) है, इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है। वहाँ अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय का विशेषण वह गुण है और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) वे पर्यायें हैं। सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंत में (अरहंत के स्वरूप का ख्याल करने पर) जीव तीनों प्रकार युक्त समय को (द्रव्य-गुण-पर्यायमय निज आत्मा को अपने मन से जान लेता है – समझ लेता है। यथा 'यह चेतन है' इसप्रकार का अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है, और एक समय मात्र की मर्यादावाला कालपरिमाण होने से परस्पर अवृत्त अन्वय व्यतिरेक वे पर्यायें हैं – जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ (गाँठें) हैं।"

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र की टीका का प्रथम चरण है। इसमें आचार्यश्री ने आत्मानुभव करने के पूर्व मन सहित विकल्पात्मक ज्ञान द्वारा उसको समझने के सरल मार्ग का निरुपण किया है। टीका के उत्तर चरण को एवं जयसेनाचार्य की टीका को यहाँ उद्धृत नहीं किया है आगे करेंगे, ताकि वहाँ उस पर चर्चा हो सके। अभी तो उपरोक्त मार्ग को समझने के लिए चर्चा सीमित रखेंगे।

सर्वप्रथम आचार्यश्री ने मात्र अरहंत को नहीं, बल्कि उनको द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से जानकर अपनी आत्मा को जान लेना बताया है। क्योंकि इनका आत्मा शुद्ध स्वर्ण के समान, द्रव्य और गुण के साथ-साथ पर्याय से भी शुद्ध है; अतः उनको जानने से आत्मा का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है।

उपरोक्त कथन को स्वीकार करने में अज्ञानी को अपनी विकारी पर्याय बाधक लगती है। वह कहता है मेरी पर्याय तो विकारी है फिर मैं अपने को पर्याय से भी अरहंत के समान कैसे स्वीकार कर लूँ ? अज्ञानी विचार भी नहीं करता कि इस विकार को उत्पन्न करने की आत्मा में कोई शक्ति (गुण) तो है नहीं, गुण के बिना (आधार के बिना) मात्र अनित्य स्वभावी पर्याय में विकार उत्पन्न होता है। उत्पाद काल में अज्ञानी परलक्ष्यी ज्ञान के विषय अर्थात् परज्ञेय में विपरीत (मिथ्या) मान्यता के कारण अपनापन (एकत्वबुद्धि) कर लेता है तो अज्ञानी मिथ्यात्व सहित का राग (अनंतानुबंधी विकार भाव) उत्पन्न कर लेता है। इन भावों का उत्पादक आत्मा को अथवा उसके गुण को कैसे माना जावे ? ये तो एक समयवर्ती अनित्य स्वभावी पर्याय में भी, अगर यह भूल करे तो वह भूल ही उक्त राग का उत्पादक कारण है, आत्मा नहीं। ज्ञानी आत्मा परज्ञेय में एकत्वबुद्धि का भाव नहीं करता तो उसको विकार (अनन्तानुबंधी राग) नहीं होता; फिर भी जब तक परज्ञेयों के प्रति किंचित् भी आसक्ति (झुकाव) रहेगी तब तक उसके भी क्रमशः प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, संज्वलन संबंधी राग (विकार) होता रहेगा, लेकिन जब वह परज्ञेय से किंचित भी संयोग छोड़ देगा तो वह स्वयं ही परमात्मा बन जावेगा। तात्पर्य यह है कि राग (विकार) की खान आत्मा नहीं है। आत्मा अपनी उत्पाद होती हुई ज्ञान पर्याय

में पर के ज्ञात होते ही उसमें एकत्वबुद्धि रूप अज्ञान (अनन्तानुबंधी राग) उत्पन्न करता है; इसप्रकार उसका अज्ञान ही उस राग के उत्पादन की खान है। ऐसा समयसार के पृष्ठ 566 पर आचार्यश्री ने स्वयं प्रश्न उठाकर उपरोक्त समाधान किया है। (जो पहले प्रकरण में आ चुका है।)

उपरोक्त प्रकार से सर्व प्रकार से निशल्य होकर गाथा 80 के मर्म को समझकर दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व को समूल नष्ट करने के लिए कटिबद्ध होकर गाथा 80 में ही बताये मार्ग को अपनाकर कृतकृत्य हो जाना चाहिए।

गाथा ८० की टीका का मर्म

आचार्यश्री ने कहा है कि अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से जानने से अपनी आत्मा का ज्ञान होता है और वह ज्ञान किस प्रकार होता है? वह उपाय भी उन्होंने दृष्टान्त प्रस्तुत कर समझाया है। वह इसप्रकार है – 'इसलिए उसका (अरहंत की आत्मा का) ज्ञान होने पर सर्व आत्मा (अपनी सम्पूर्ण आत्मा) का ज्ञान होता है। वहाँ अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय का विशेषण वह गुण है और अन्वय का व्यतिरेक (भेद) पर्याय है, सर्वथा विशुद्ध भगवान अरहंत में (अन्वय के स्वरूप का ख्याल करने पर जीव तीनों प्रकार युक्त समय को द्रव्य-गुण-पर्याय रूप निज आत्मा को) अपने मन से जान लेता है – समझ लेता है। यथा 'यह चेतन है' इसप्रकार का अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला चैतन्य विशेषण वह गुण है और एक समय की मर्यादा वाला काल परिणाम होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वय व्यतिरेक वे पर्यायें हैं – जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ (गाँठें) हैं।'

टीका का उपरोक्त अंश इतनी सरलतापूर्वक स्पष्ट किया गया है कि इसमें और भी स्पष्ट करने जैसा कुछ रहता ही नहीं हैं। मात्र अन्वय शब्द एवं अन्वय व्यतिरेक शब्दों का अभिप्राय समझने योग्य है। अन्वय से अभिप्राय है कि जो धारावाहिक रूप से प्रवाहित अर्थात् बहता रहे और उसी अन्वय के समय-समयवर्ती परिणमन के भेद वह अन्वय के व्यतिरेक हैं; इसप्रकार चेतन द्रव्य वह अन्वय है और उसी चेतन द्रव्य की समय-समय वर्तनेवाली पर्यायें वे व्यतिरेक हैं। जैसे – एक माला है उसमें सूत का डोरा तो अन्वय है और उसकी एक-एक अलग-अलग गाँठें हैं वे व्यतिरेक हैं। तात्पर्य यह है कि माला का डोरा ही हर एक मनके (माला के मनी) में अन्वय के रूप में धारावाहिक विद्यमान रहता है। दोनों के इसप्रकार के अन्वय व्यतिरेक का अभिप्राय समझ लेने पर टीका का तात्पर्य बहुत सरल हो जाता है।

आचार्यश्री ने टीका में कहा है कि ' अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है और अन्वय का व्यतिरेक वह पर्याय है' सर्वतः विशुद्ध भगवान आत्मा का द्रव्य सर्वतः विशुद्ध है, उनके अनन्तगुण वे अन्वय के विशेषण हैं, क्योंकि वे उनकी (आत्मा की) सामर्थ्य ही तो है और सर्वतः विशुद्ध उनकी आत्मा का समय-समय होनेवाला परिणमन ही अन्वय का व्यतिरेक हैं। इसप्रकार उनकी आत्मा के अन्वय का ज्ञान होने से, जीव द्रव्य-गुण-पर्याय सहित अपने आत्मा को समझ लेता है। वह किसप्रकार समझ लेता है, यह भी आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है – (अपनी आत्मा में) 'यह चेतन है' वह अन्वय है, चेतन अन्वय के विशेषण वे गुण हैं। और उसी चेतन (ज्ञान की) की समय-समय वर्तने वाली पर्यायें ही उस अन्वय के व्यतिरेक हैं। वे अन्वय के व्यतिरेक उसी चेतन के परिणमन की गांठों के समान हैं।

इसप्रकार अपने आत्मा को समझ लेता है।

उपरोक्त प्रकार से आचार्यश्री ने द्रव्यदृष्टि कराई है। आत्मार्थी का अभी तक स्त्री-पुत्रादि सचेतन एवं मकान जायदाद आदि अचेतन परिकर के एवं अपने शरीरादि नोकर्म तथा द्रव्यकर्म और अपने आत्मा की पर्यायों में विद्यमान ऐसे भावकर्म आदि में मेरापना चलता चला आ रहा था। उन सबमें से अपनापन तोड़कर, सबकी ओर से वृत्ति को (परिणति को) समेटकर, आत्मसन्मुख कर लेता है। तात्पर्य यह है कि विश्व भर से अपनापन तोड़कर परज्ञेय मात्र से परिणति सिमटकर अपने स्वामी, ऐसे ज्ञायक में अपनापन करने के लिए (स्वसन्मुख) तत्पर हो जाती है; ऐसे आत्मार्थी को अपनी निर्मल पर्यायों की अनेकताओं एवं गुणों की अनेकताओं को पार करके ज्ञायक ऐसे चेतन राजा को पहिचान कर उसमें अपनापन स्थापन करने का संक्षिप्त एवं सरल मार्ग भी उक्त टीका में उत्तर चरण में ही बता दिया है वह निम्नप्रकार है :–

"अब इसप्रकार त्रैकालिक को भी (त्रैकालिक आत्मा को भी) एक काल में समझनेवाला वह जीव, जैसे मोतियों को झूलते हार में अन्तर्गत माना जाता है, उसीप्रकार चिद्विवर्तों को चेतन में ही अन्तर्गत करके तथा विशेषणविशेष्यता की वासना का अन्तर्धान होने से – जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है, उसीप्रकार चैतन्य को चैतन में ही अन्तर्हित करके जैसे हार को जाना जाता है, उसीप्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है, इसलिये निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है; और इसप्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है – ऐसे उस

(चिन्मात्र भाव को प्राप्त) जीव के, मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है। यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।"

जो अनन्तगुणों एवं अनन्तानन्त पर्यायों में अन्वय के रूप में धारावाहिक प्रवाहित हो रहा है, ऐसा चेतन ज्ञायक ही तू है। अनन्त गुण तेरी ही सामर्थ्य होने से तेरे विशेषण मात्र ही हैं। तथा हर समय की पर्यायों में, अनन्त गुणों का धारक तू ही तो विद्यमान रहता है। अतः गुणों एवं पर्यायों को देखूँ तो सबमें मैं चेतन द्रव्य ही मिलता हूँ। तात्पर्य यह है कि विश्व भर से सिमटकर मेरी परिणति अपने स्वामी को खोजने के लिए स्वसन्मुख हुई थी, उसको उपरोक्त टीका में बताये मार्ग से खोज कर अपनापन स्थापन करने का यथार्थ मार्ग समझा दिया। पर को स्व के रूप में देखने की दृष्टि छुड़ाकर चेतन रूप ज्ञायक को स्व के रूप में देखने की दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि कराई है। द्रव्यदृष्टि हुए बिना कभी भी दर्शनमोह का नाश होकर सम्यग्दृष्टि नहीं हुआ जा सकता। कहा भी है – 'द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि' आदि-आदि।

समयसार के कलश 7 में कहा है कि **'नवतत्त्व गतत्वेपि यदेकत्वं न मुञ्चति।'** जो नवतत्त्वों में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती। इसीप्रकार गाथा 13 में कहा है कि **'भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यक्त्व हैं'** क्योंकि नवतत्त्वों में अकेला चेतन ही मैं के रूप में दिखता है, पर्यायगत नव भेद नहीं। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाना ही सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। पर्यायगत अशुद्धता अथवा शुद्धता इसीप्रकार पर्यायगत ज्ञान की अल्पज्ञता अथवा सर्वज्ञता, ये सब द्रव्यदृष्टि में हैं ही नहीं लेकिन साथ ही सम्यग्ज्ञान में गौण रूप से

बने रहते हैं। ऐसी द्रव्यदृष्टि प्रगट करने का मार्ग आचार्यश्री ने उपरोक्त प्रकार से समझा दिया है। ऐसा अलभ्य मार्ग प्राप्त करके द्रव्यदृष्टि प्रगट कर, निर्विकल्प आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है और उसके द्वारा दर्शनमोह का नाश कर ज्ञानी बन जाता है। ऐसी निर्विकल्प दशा को प्रगट करने के लिए आत्मार्थी को किसप्रकार का पुरुषार्थ करना होगा वह मार्ग भी आचार्यश्री ने उक्त टीका के उत्तर चरण में स्पष्ट किया है। उसको उग्र रुचि के साथ महिमापूर्वक समझकर, तदनुसार पुरुषार्थपूर्वक करने से दर्शन मोह का नाश सरलता के साथ हो सकता है।

निर्विकल्प अनुभव के उपाय

टीका के प्रथम चरण में जो उपाय बताया गया है, वह सब भी वास्तव में निर्विकल्प दशा प्राप्त करने के मार्ग के लिए ही था। मार्ग पर चलना प्रारम्भ तब ही हो सकता है, जबकि पहले मार्ग समझ लिया गया हो और रुचि की उग्रता के बल से परिणति भी पर से सिमटकर आत्मसन्मुख हो गई हो। समझने में मन का आलम्बन मुख्य रहता है, वह बहिर्लक्ष्यी रहते हुए कार्य करता है। इसप्रकार विकल्पात्मक ज्ञान द्वारा, आत्मस्वरूप का तथा उसको प्राप्त करने अर्थात् निर्विकल्पता होने का यथार्थ मार्ग का निःशंक निर्णय होता है। यहाँ तक का मार्ग सब देशनालब्धि के अन्तर्गत होने वाला पुरुषार्थ है। इसप्रकार यथार्थ निःशंक निर्णय हुए बिना गाथा के उत्तर चरण में बताया गया मार्ग प्रारम्भ भी नहीं होता। साथ ही उस मार्ग की भी महिमा नहीं रहकर आत्मोपलब्धि के प्रति तीव्र महिमापूर्वक उत्साह भी नहीं होगा और विकल्पों के प्रति आकर्षण नहीं टूटेगा तब तक आगे का मार्ग प्रारम्भ भी नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि विकल्प के

अभाव में ही निर्विकल्पता होती है; अतः उनमें हेय बुद्धिपूर्वक त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवधाम का आश्रय एवं उपादेयपना नहीं होगा, तब तक आत्मा निर्विकल्प कैसे होगा ? अतः बहिर्लक्ष्यी ज्ञान टूटकर अन्तर्लक्ष्यी हुए बिना, उक्त पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं हो सकेगा। ज्ञान का बहिर्लक्ष्यीपना बदलकर, स्वलक्ष्यी करने के लिए कर्ताबुद्धिपूर्वक किया गया प्रयास सफल नहीं हो सकता। अपने अभेद त्रिकाली चेतन ज्ञायक में जितनी उग्र रुचि के साथ अपनेपने की दृढ़ता बढ़ती जावेगी, सहजरूप से उतनी ही शीघ्रतापूर्वक ज्ञान स्वलक्ष्यी कार्य करने लगेगा। इसप्रकार का पुरुषार्थ ही प्रायोग्यलब्धि का पुरुषार्थ है और इस पुरुषार्थ की चरम सीमा ही करणलब्धि है। करणलब्धि के अन्त में निर्विकल्प आत्मानुभव हो जाता है।

टीका के उत्तर चरण का मर्म

टीका के उत्तर चरण में आचार्यश्री ने प्रारंभ ही इसप्रकार किया है कि "अब इसप्रकार त्रैकालिक को (त्रैकालिक आत्मा को भी) एक काल में समझ लेने वाला वह जीव" (इसके द्वारा आचार्यश्री ने स्पष्ट कर दिया कि टीका के प्रथम चरण में जो उपाय बताया था वो समझने के लिए ही था अर्थात् बहिर्लक्ष्यी विकल्पात्मक इन्द्रिय ज्ञान द्वारा समझने के लिए था, अनुभव के लिए नहीं) साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त पद्धति द्वारा समझ लेने पर ही अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ प्रारंभ होगा। समझे बिना भी नहीं होगा और समझ लेने मात्र से भी नहीं होगा। समझकर रुचि की उग्रता सहित परिणति को पर की ओर से समेटकर अन्तर्लक्ष्यी करने से ही प्रारम्भ होगा। वह उपाय भी अर्थात् अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ किसप्रकार से होता है, वह भी आचार्यश्री ने आगे बताया है। वह इसप्रकार है – (पहले दृष्टांत देते हैं)

'' जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में अंतर्गत माना जाता है उसीप्रकार'' इस दृष्टांत से चेतन द्रव्य के स्थान पर हार लिया है, पर्याय के स्थान पर मोती लिये हैं और गुणों को मातियों की विशेषताएँ (सफेदी, चमक, छोटा, बड़ा आदि) तात्पर्य यह है कि हार को दृष्टि में लेने पर मोतियों का समूह एवं उनकी विशेषताएँ आदि सभी अभेदरूप से अनुभव (ज्ञान) में आ जाती है, इसीप्रकार चेतन द्रव्य की दृष्टि करने से तो चेतनगुण और चेतन की पर्यायें अभेदरूप से ज्ञान-श्रद्धान में आ जाती हैं। ऐसा अभेद अनुभव कैसे हो, वह प्रकार भी आचार्यश्री स्पष्ट करते हैं। ध्यान दें यहाँ जो कथन किया गया है वह समझने के उद्देश्य से नहीं किया गया है वरन् अन्तर्परिणति में रुचि की उग्रता सहित पर में अपनेपन का आकर्षण टूट कर, ज्ञान में अपनेपन का आकर्षण करने के लिए, ज्ञायक (चेतनद्रव्य) के चैतन्यादि गुणों एवं चेतन की चेतन पर्यायों रूप भेदों पर से भी दृष्टि समेटकर अभेद ज्ञायक में अपनापन स्थापन करने हेतु मात्र एक ज्ञायक अभेद कैसे हो जावे इसके लिए किया गया है। वे उपाय भी आचार्य महाराज बता रहे हैं । वह इसप्रकार –

'उसीप्रकार चिद्विवर्तों (चेतन की चेतन पर्यायों) को चेतन में ही अन्तर्गत करके, (चेतन में ही समेटकर) तथा विशेषण (गुण) विशेषता (गुणी) की वासना का अन्तर्धान (अदृश्य हो जाना) होने से – जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित (गुप्त अदृश्य) किया जाता है, उसीप्रकार – चैतन्य (गुण) को चेतन द्रव्य में ही अन्तर्हित (समावेश) करके जैसे मात्र हार को जाना जाता है, उसीप्रकार केवल आत्मा को जानने पर (अचार्यश्री ने हार का दृष्टांत देकर चेतन द्रव्य में चैतन्यादि गुण एवं पर्यायों को चेतन में ही अभेद करके अनुभव करने का अभिप्राय

व्यक्त किया है।)"

उपरोक्त प्रकार के अभेद अनुभव करने से अन्तर्परिणति में ही निर्विकल्प उपयोग होकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव कैसे प्राप्त होगा वह भी आचार्यश्री स्पष्ट करते हैं। "उसके उत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है।" (इन परिणामों में चेतनद्रव्य में ज्ञानगुण के द्वारा ज्ञायक को जाना ऐसा विभाग भी क्षय को प्राप्त होता जाता है – ऐसा अभिप्राय व्यक्त होता है साथ ही उपरोक्त परिणाम प्रायोग्यलब्धि पार कर करणलब्धि के परिणामों की तारतम्यता के भी सूचक हैं)। उपरोक्त परिणामों के फल में अन्तर्परिणति में क्या प्राप्त होगा वह भी आचार्य स्पष्ट करते हैं, "इसलिए (आत्मा) निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है," (अर्थात् किसीप्रकार के भेद नहीं रह कर आत्मा निष्क्रिय ज्ञायक रह जाता है, और निर्विकल्प होने से आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है।)

उपरोक्त आत्मानुभूति होने का फल आत्मा को क्या प्राप्त होगा, वह भी आचार्यश्री आगे स्पष्ट करते हैं। वह इसप्रकार है – "और इसप्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मलप्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है, (ऐसे ज्ञायक में अपनापन कर निर्विकल्प अनुभव होने से अकम्परूप से प्रवर्तमान होने लगता है) ऐसे उस (चिन्मात्रभाव को प्राप्त) जीव के, मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है।" (अर्थात् दर्शनमोह निश्चितरूप नाश को प्राप्त हो जावेगा, ऐसा कहकर आचार्य गारन्टी करते हैं कि मिथ्यात्व नाश ही नहीं प्रत्युत जड़मूल से नष्ट) हो जावेगा)

इसप्रकार आचार्यश्री ने उपरोक्त गाथा की टीका में देशना-लब्धि से लेकर प्रायोग्य के काल के अन्तर्मुखी पुरुषार्थ का स्वरूप

बताते हुवे करणलब्धि के परिणामों की तारतम्यता (जो केवलीगम्या है) को भी बतलाकर निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट करने तक का अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त उपाय बतला दिया है।

इसप्रकार आचार्यश्री ने गाथा 79 की टीका के अंत में प्रतिज्ञा की थी कि मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कसी है। उसका निर्वाह करते हुवे गाथा 80 की टीका में उपरोक्त प्रकार से दर्शनमोह को प्रलय (समूल नष्ट करने) का अत्यन्त स्पष्ट संक्षिप्त सांगोपांग उपाय बता दिया। आत्मार्थी बंधुओं को यह मार्ग अपनाकर मिथ्यात्व का नाश कर कृतकृत्य हो जाना चाहिए।

ध्यान रहे, दर्शनमोह का नाश प्रायोग्यलब्धिपूर्वक करणलब्धि के भी अंत में निर्विकल्प आत्मानुभूति में ही होता है और प्रायोग्य एवं करणलब्धि संबंधी पुरुषार्थ एक मात्र अन्तर्मुखी परिणमन में ही होता है। अन्तर्मुखी परिणमन तो सिद्ध सादृश्य अपने त्रिकाली ज्ञायक में अपनापन करने की तीव्र रुचि के साथ बहिर्मुखी परिणमन का कारण पर में अपनेपन का आकर्षण उसमें ढीलापन आकर ज्ञायक के प्रति अपनेपन के आकर्षण की तारतम्यता पूर्वक वृद्धि ही सम्यक् पुरुषार्थ है। रुचि आदि रहित के विकल्प साधक होने के विपरीत बाधक ही नहीं, मार्ग भ्रष्ट कर देने वाले होते हैं। समझने के काल के विकल्प भी वृत्ति को बहिर्मुखी ही बनाये रखते हैं, लेकिन उनके द्वारा स्वरूप समझकर वृत्ति को अन्तर्मुखी करके उपरोक्त पुरुषार्थ में संलग्न हो तो उन विकल्पों को व्यवहार से (उपचार से) भूतनैगमनय से कारण भी कहा जाता है।

ग्रन्थान्तरों में उपाय

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने अपनी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में 'सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होने का विधान' शीर्षक प्रकरण में वह मार्ग निम्नप्रकार बताया है।

" वही सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्वपर का करे, नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित केवल चैतन्य चमत्कार मात्र अपना स्वरूप जाने; पश्चात् पर का भी विचार छूट जाये, केवल स्वात्म विचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार निज स्वरूप में अहं बुद्धि धरता है। चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ – इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द तरंग उठती है, रोमांच हो जाता है। तत्पश्चात् ऐसा विचार भी छूट जाये, केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लगे; वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन ज्ञानादिक का, नय प्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है।

चैतन्य स्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उसी में व्याप्य-व्यापक रूप होकर इसप्रकार प्रवर्तता है जहाँ ध्याता ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है।"

उक्त चिट्ठी पर पूज्य श्री कानजीस्वामी ने विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचन किए हैं, जिनका 'अध्यात्म संदेश' के नाम से कई संस्करणों में प्रकाशन हो चुका है। उसमें उपरोक्त (सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होने के विधान) पर जो प्रवचन हुए हैं वे इस मार्ग को और भी स्पष्ट कर देते हैं, अतः आत्मार्थी के लिए परम लाभकारी होने से अविकल रूप से उद्धृत किये जाते हैं।

"देखो यह स्वानुभव की अलौकिक चर्चा! यहाँ तो एकबार

जिसको स्वानुभव हो गया है और फिर से वह स्वानुभव करता है उसकी बात की है परन्तु पहली बार भी जो निर्विकल्प स्वानुभव का उद्यम करता है वह भी इसीप्रकार से भेदज्ञान व स्वरूप चिंतन में तल्लीन करके स्वानुभव करता है। इस निर्विकल्प अनुभव के समय आत्मा अपने आप में व्याप्य व्यापक रूप से ऐसा तल्लीन वर्तता है अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय की ऐसी एकता हो जाती है कि ध्याता, ध्यान, ध्येय का भेद भी वहाँ नहीं रहता, वहाँ स्वानुभव के परम आनन्द का भोगना तो है, परन्तु उसका विकल्प नहीं है। एकबार होनेवाले ऐसे निर्विकल्प अनुभव की रीति यहाँ दिखलाते हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जिसप्रकार निर्विकल्प अनुभव करता है, यह दिखाया है। इस उदाहरण के अनुसार दूसरे जीवों को भी निर्विकल्प अनुभव करने का यही उपाय है – ऐसा समझ लेना।"

मार्ग का स्पष्टीकरण

"सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभ के समय सविकल्प दशा में सम्यक्त्व किसप्रकार वर्त रहा है ? यह पहले समझाया। अब कहते हैं कि वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूप ध्यान करने का उद्यमी होता है, जिस स्वरूप का अपूर्व स्वाद स्वानुभव में चखा है, उसी का फिर-फिर अनुभव करने के लिए वह उद्यम करता है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले को, अपने चेतन द्रव्य का जो स्वरूप सविकल्प ज्ञान में निर्णय किया है, उसी को बार-बार स्मरण में लाता है।

सर्वप्रथम तो स्वपर के स्वरूप का भेदविज्ञान करे अर्थात् पहले जो भेदविज्ञान किया है, उसी को फिर से चिन्तन में लावे, यह स्थूल देहादि तो मेरे से स्पष्टतः भिन्न हैं, इसके कारण रूप जो भीतर के

ही भिन्न है। मैं चैतन्य और वह जड़, मैं परमात्मा और वह परमाणु – ऐसे दोनों की भिन्नता है और भिन्नता होने से कर्म मेरा कुछ नहीं करता।

अब अन्दर में आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष क्रोधादि, भावकर्म उनसे भी मेरा स्वरूप अत्यन्त भिन्न है। मेरे ज्ञान स्वरूप की और इन रागादि परभावों की जाति ही भिन्न है। राग का वेदन तो आकुलतारूप है और ज्ञान का वेदन तो शान्तिमय है। ऐसे बहुत प्रकार से द्रव्यकर्म, नोकर्म व भावकर्म से अपने स्वरूप की भिन्नता का चिन्तन करें; इन सबसे भिन्न मैं चैतन्य चमत्कार मात्र हूँ – ऐसा विचार करे। ऐसे वस्तु स्वरूप के निर्णय में ही जिसकी भूल हो, वह तो स्वरूप के ध्यान का सच्चा उद्यम कर ही नहीं सकता, क्योंकि जिसका ध्यान करता है, उसकी पहले पहचान तो होनी चाहिए न। पहचाने बिना ध्यान किसका ?

इसप्रकार स्वपर की भिन्नता के विचार से परिणामों को जरा स्थिर करें बाद में स्व-पर का विचार छूट कर निज स्वभाव का ही विचार रहे। जिस स्वरूप का पहले अनुभव किया है अथवा जिस स्वरूप को निर्णय में लिया है, उसकी अत्यन्त महिमा कर करके उसी के विचार में अपने मन को एकाग्र करता है। परद्रव्यों व परभावों से तो अहंबुद्धि छोड़ दी है, और अपने निज स्वरूप को जानकर उसमें ही अहंबुद्धि की है। मैं चिदानन्द हूँ, मैं अनन्त शक्ति का निधान हूँ, मैं सर्वज्ञ स्वभावी हूँ – इत्यादि प्रकार से अपने निज स्वरूप में ही अहंबुद्धि कर करके इसका चिन्तवन करता है।

ऐसे जिस आत्मा की भावना करने की शिक्षा मुमुक्षु को दी है और कहा है कि ऐसी भावना के अभ्यास से मध्यस्थता होती है, अर्थात्

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी ऐसी निजात्म भावना से प्रगट होते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद एवं सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भी ऐसी ही भावना व ऐसा चिन्तवन कर्तव्य है। सहज शुद्धात्मा की अनुभूति जितना ही मैं हूँ। जो मेरे स्व संवेदन में आ रहा है वही मैं हूँ – ऐसे सम्यक् चिन्तन में सहज ही आनन्द तरंगें उठती हैं और रोमांच होता है।

देखो तो सही इसमें चैतन्य के रस का कितना घोलन हो रहा है। ऊपर जितना वर्णन किया है, वहाँ तक तो अभी सविकल्प दशा है। उस चिन्तन में जो आनन्द तरंगें उठती हैं, वह निर्विकल्प अनुभूति का आनन्द नहीं है, परन्तु स्वभाव की तरफ के उल्लास का आनन्द है और इसमें स्वभाव की तरफ के अतिशय प्रेम के कारण रोमांच हो उठता है। रोमांच अर्थात् विशेष उल्लास, स्वभाव के प्रति विशेष उत्साह।

जैसे संसार में भय का या आनन्द का कोई विशेष (खास) प्रसंग बनने पर रोम-रोम उल्लसित हो जाता है, वह रोमांच हुआ कहलाता है; वैसे यहाँ स्वभाव के निर्विकल्प अनुभव के खास विशिष्ट प्रसंग में धर्मी को आत्मा के असंख्य प्रदेश में स्वभाव के अपूर्व उल्लास का रोमांच होता है। ऐसे परिणाम प्रायोग्यलब्धि के परिणाम हैं। इसके बाद चैतन्य स्वभाव के रस की उग्रता होने पर ये विचार (विकल्प) भी छूट जाये और परिणाम अन्तर्मग्न होकर केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लगे, सर्व परिणाम स्वरूप में एकाग्र होकर वर्तें, उपयोग स्वानुभव में प्रवर्ते – इसी का नाम निर्विकल्प आनन्द का अनुभव है। वहाँ दर्शन ज्ञान चारित्र सम्बन्धी या नय प्रमाणादि का कोई विचार नहीं रहता, सभी विकल्पों का विलय हो जाता है।

यहाँ पर स्वरूप में ही व्याप्य व्यापकता है, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय एकमेक एकाकार अभेदस्वरूप में अनुभव में आते हैं। अनुभव करनेवाली पर्याय स्वरूप में व्याप्त हो जाती है, भिन्न नहीं रहती। परभाव अनुभव से बाहर रह गये, परन्तु निर्मल पर्याय तो अनुभूति के साथ में मिल गई। ऐसे परिणाम करणलब्धि के परिणाम हैं – ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

पहले विचार दशा में ज्ञान ने जिस स्वरूप को लक्ष्य में लिया था, उसी स्वरूप में ज्ञान का उपयोग जुड़ गया और बीच में से विकल्प निकल गया अनुभूति हुई, परम आनन्द हुआ। ऐसी अनुभूति में प्रतिक्रमण सामायिक प्रत्याख्यान आदि सभी धर्म समा जा जाते हैं। इस अनुभूति को ही जैन शासन कहा है, यही वीतसग मार्ग है, यही जैनधर्म है, यही श्रुत का सार है, सन्तों की एवं आगम की यही आज्ञा है। शुद्धात्म अनुभूति की अपार महिमा है, वह कहाँ तक कहें ? आप स्वयं अनुभूति करें तभी इसकी खबर पड़े।" (अध्यात्म संदेश)

उपरोक्त प्रकार से पूज्य स्वामीजी ने आत्मा के अन्तर के पुरुषार्थ को शब्दों के द्वारा स्पष्ट बताकर आत्मार्थी के लिए मार्ग बहुत सरल कर दिया है। इसप्रकार सन्तों का महान उपकार है। उपरोक्त प्रकार के समस्त अन्तर्पुरुषार्थ में रुचि का पृष्ठबल सर्वोपरि मुख्य रहता है। आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ में मनगत विचार तो बाधक ही होते हैं, क्योंकि वे विकल्पों के उत्पादक हैं। निर्विकल्पता में विकल्प तो प्रबल शत्रु के समान घातक होते हैं। अतः उक्त पुरुषार्थ में मन का कार्य तो जितना शीघ्र विलय को प्राप्त होगा उतना शीघ्र ही निर्विकल्पता प्राप्त होगी। इसलिए उपरोक्त पुरुषार्थ में तो त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायक स्वभावी (सिद्ध स्वभावी) निज चैतन्य द्रव्य में निःशंकता

एवं दृढ़तापूर्वक अपनापन आकर उसी के आश्रयपूर्वक उसी में एकाग्र (लीन) होने की तीव्रतम रुचि का ही पृष्ठबल कार्यकारी होता है। अकर्ता ज्ञायक रूप अपने अस्तित्व की श्रद्धा ही इसका साधक पुरुषार्थ हैं पूज्य स्वामीजी के उपरोक्त स्पष्टीकरण से यही भाव प्रगट होता है।

आचार्यश्री अमृतचन्ददेव ने समयसार गाथा 144 की टीका में भी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होने की विधि बताई है। उक्त टीका निम्नप्रकार है –

'' प्रथम श्रुतज्ञान (जिनवाणी) के आलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का (मैं चेतन द्रव्य त्रिकाली ज्ञायक हूँ ऐसा) निश्चय करके और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि (निर्विकल्प अनुभव) के लिए पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर (चेतन द्रव्य में अपनापन आने से परिणति स्व की ओर आकृष्ट हो जाती है तथा सहज रूप से पर की ओर से सिमट जाती है।) जिसने मतिज्ञान तत्त्व को (मतिज्ञान को) आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा जो नानाप्रकारों के नयों के आलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर (द्रव्य के गुण भेदों और पर्याय भेदों में अटकनेवाले ज्ञान को अभेद चेतन द्रव्य के आश्रय द्वारा) श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ (करणलब्धि के परिणामपूर्वक) अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निज रस से प्रगट होता हुआ, आदि मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो, ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी

श्रद्धा की जाती है) (निर्विकल्प अनुभव होता है) और ज्ञात होता है इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।"

उपरोक्त टीका में भी आचार्यश्री ने सर्वप्रथम विकल्पात्मक ज्ञान में जिनवाणी एवं सद्गुरु के समागम द्वारा ऐसा निर्णय करने का ही आदेश दिया है कि मेरा अस्तित्व तो सिद्धस्वभावीअकर्ताज्ञायक ध्रुवचेतन आत्मा है। अन्य जो भी ज्ञात हो रहे हैं वह मैं नहीं; इसप्रकार अपनापना स्व में दृढ़ करना है। ऐसे निर्णय के पृष्ठबल पूर्वक रुचि की उग्रता से समस्त परज्ञेयों की ओर से परिणति को समेटकर, आत्मसन्मुख कर लिया हो – ऐसा आत्मार्थी ही आगे बताये मार्ग में सफल हो सकेगा। निर्णय करने का सब पुरुषार्थ परलक्ष्यी विकल्पात्मक होने से देशनालब्धि के अन्तर्गत रहता है। आगे बताया मार्ग आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ है। इसमें विकल्प गौण होते जाते हैं और स्वभाव के प्रति उत्साह की उग्रता मुख्य हो जाती है। फलतः बढ़ते-बढ़ते विकल्पों का अभाव होकर निर्विकल्प अनुभूति प्रगट हो जाती है। इसप्रकार के पुरुषार्थ को ही आचार्यश्री ने निर्णय के पश्चात् होने वाली उपरोक्त क्रम परिपाटी समझाई है।

उपरोक्त प्रकार से अपने त्रिकाली अकर्ता ज्ञायक स्वभाव में अहंपना अपनापना स्थापन किया था उसी के आश्रयपूर्वक अपनी परिणति को जोड़ने के लिए उपयोग की एकाग्रता द्वारा लीन करने का पुरुषार्थ करता है। ऐसे पुरुषार्थ में जो वृत्ति पर की ओर से सिमटकर आत्मसन्मुख हुई थी। उस परिणति को अपने स्वभाव की शरण प्राप्त हो जाने से वह ज्ञायक में एकाग्र हो निर्विकल्पता के साथ आत्मानन्द का रसास्वादन कर लेती है। ऐसी पुरुषार्थ की प्रक्रिया में उपरोक्त टीका में कहे गये मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही बाहर की

ओर से सिमटकर आत्मसन्मुख हो जाते हैं। इन्द्रियों एवं मन का विषय तो पर ही होता है। इसलिए जो ज्ञान पर के सन्मुख होकर कार्यरत था, वही ज्ञान सिमटकर आत्मसन्मुख हो जाने से सहज ही मर्यादित हो जाता है। मन का तो कार्य ही विषय परिवर्तन करना रहता है। अतः वह तो विकल्पात्मक होने से आत्मा में एकाग्र होने में बाधक होता था। अब जब परिणति ने अकेले त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में अपनापन स्थापन कर लिया तो परिणति को अन्य कोई शरणभूत नहीं रहने से श्रुतज्ञान भी सहज रूप से अपने में एकाग्र हो गया, फलतः विकल्पों का अभाव हो जाने से परिणति निर्विकल्प होकर अनुभूति प्राप्त कर लेती है। इस प्रक्रिया में टीका में कही गई उपलब्धियाँ सहजरूप से आत्मा को प्राप्त हो जाती हैं।

उपरोक्त समस्त प्रक्रिया के काल में पाँच इन्द्रिय के विषयों की ओर से तो परिणति सिमट ही जाती है, लेकिन मन का सम्बन्ध सूक्ष्म होता हुआ बना रहता है। तब तक की समस्त प्रक्रिया प्रायोग्य-लब्धि मानी जा सकती है तत्पश्चात् पुरुषार्थ एवं परिणति का आत्मा में अभेद होकर निर्विकल्प होने की प्रक्रिया करणलब्धि के अन्तर्गत समझी जाने योग्य है, ऐसा अनुमान होता है।

उपरोक्त दशा के अन्त में सम्यग्दर्शन का उदय होकर, अनन्त संसार का अभाव करके वह आत्मार्थी मोक्षमार्गी आत्माओं अर्थात् भावी सिद्ध भगवानों की टोली में सम्मिलित होकर कृतकृत्य हो जाता है।

आचार्यश्री जयसेन की गाथा 80 की टीका के अनुसार –

अन्वय के स्पष्टीकरण में लिखा है – "गुण-पर्यायों का आधारभूत अमूर्त असंख्यात प्रदेशी शुद्ध चैतन्य के अन्वय रूप (नित्य

वही-वही) द्रव्य है।"

" इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप को पहले कहे हुए अरहंत नाम परमात्मा में जानकर, (यहाँ तक बहिर्लक्ष्यी ज्ञान में देशनालब्धि का पुरुषार्थ है) तदनन्तर निश्चय नय से उसी आगम के सारपदभूत अध्यात्म भाषा (की अपेक्षा) से स्वशुद्धात्मभावना के सन्मुख रूप सविकल्प स्वसंवेदनज्ञान से। (यहाँ तक का पुरुषार्थ प्रायोग्यलब्धि के अन्तर्गत माना जाने योग्य है) उसीप्रकार आगम भाषा (की अपेक्षा) अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नामक दर्शन मोह के क्षय में समर्थ परिणाम-विशेष के बल से (ये करणलब्धि में होने वाले परिणाम हैं) पश्चात् (अपने ज्ञान को) आत्मा में जोड़ता है।"

" इसके बाद निर्विकल्पस्वरूप प्राप्त होने पर, जैसे अभेदनय से पर्याय स्थानीय मुक्ताफल (मोती) और गुण स्थानीय धवलता (सफेदी) हार ही है, उसीप्रकार अभेदनय से पूर्वोक्त द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा ही है – इसप्रकार परिणमित होता हुआ (उसका) दर्शनमोह रूप अंधकार विनाश को प्राप्त होता है।"

उपरोक्त टीका में आचार्यश्री ने प्रायोग्यलब्धि से करणलब्धि तक के क्रमशः बढ़ते हुए पुरुषार्थ को सविकल्पस्वसंवेदनज्ञान संज्ञा दी है। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञान और परिणति, जब पर की ओर से सिमटकर आत्मसन्मुख कार्य करने लगती है तब आत्मार्थी के ऐसे पुरुषार्थ को आचार्यश्री सविकल्परूप स्वसंवेदनज्ञान कहते हैं। क्योंकि वे विकल्प, विकल्प के लिए नहीं, अपितु अभाव होने के सन्मुख हैं।

आचार्यश्री ने दूसरे पैरे में द्रव्य-गुण-पर्यायों को अपने आत्मा में अभेद करके निर्विकल्प होने की विधि भी बता दी है।

उपरोक्त समस्त प्रक्रिया में आत्मार्थी का अपने त्रिकाली ज्ञायक

ध्रुवतत्त्व में अपनापन दृढ़ता से आकर तथा ज्ञेयमात्र से परपना आकर उनकी ओर से परिणति का सिमटकर एकमात्र आत्मलक्ष्यी होना ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है। साथ ही पर्याय में आत्मा को प्राप्त करने का तीव्र उत्साह भी होना चाहिए। इससे ही कार्यसिद्धि होकर दर्शनमोह का नाश होगा।

इसप्रकार अनेक आचार्यों एवं जिनवाणी के उपदेश को हृदय में अवधारण कर, अनेक तर्कों युक्तियों के आलम्बनपूर्वक यथार्थ अनुमान द्वारा निःशंक निर्णय करना चाहिए कि मैं तो सिद्ध स्वभावी त्रिकाल अकर्ता ज्ञायक ध्रुवतत्त्व हूँ। ज्ञायक तो हर समय हर स्थिति में ज्ञायक ही है, स्व को जानना तो मेरा स्वभाव है ही। शरीर से लगाकर समस्त पर वस्तुएँ स्वतंत्र द्रव्य होने से, अपनी योग्यतानुसार परिणम रहीं हैं और परिणमती रहेंगी, न तो मैं उनका कर्ता हूँ और न उनके ज्ञात हो जाने से मुझे राग होता है। मैं तो अपनी ज्ञान पर्याय का ही ज्ञाता हूँ, इस पर्याय में स्व के अतिरिक्त पर ज्ञेयों के ज्ञेयाकार भी उपस्थित हैं। उनमें से जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उसी ज्ञान पर्याय को ज्ञेयाकार कह दिया जाता है। वे वस्तुयें (ज्ञेय) तो मेरे ज्ञान तक आते नहीं तथा मेरा ज्ञान भी उन तक जाता नहीं। अतः वास्तव में तो उनको जानने का उत्साह भी आत्मार्थी को रहने योग्य नहीं है। मैं तो मात्र उनका मध्यस्थ ज्ञाता हूँ, उनका ज्ञान सिद्ध भगवान को यदि राग का उत्पादक हो, तो मुझे भी राग हो, आदि विचारों द्वारा उनको जानने का भी उत्साह नहीं होता। इसप्रकार परिणति को समेटकर अन्तर्मुख कर लेना चाहिए। इसप्रकार इन्द्रियों से प्रवर्तने वाला ज्ञान आत्मसन्मुख हो जाता है।

त्रिकाली ज्ञायक भाव में अपनेपन के बल द्वारा, ज्ञायक के

आश्रय पूर्वक, आत्मार्थी को निर्णय वर्तता है कि अपनी पर्याय में वर्तने वाले भावकर्मों का अस्तित्व न तो मेरे द्रव्य में है और न मेरे द्रव्य में कोई ऐसा गुण है जो उनका उत्पादन करे। वे मेरे ज्ञायक की पर्याय में ज्ञात होते हैं, इसलिए वे मेरी ज्ञान पर्याय में परज्ञेय हैं। उनका उत्पाद तो मात्र एक समयवर्ती पर्याय में संयोग से अर्थात् परज्ञेयों के ज्ञान के समय उनमें एकत्व करने से उत्पन्न होते थे। अब परज्ञेयों से अपनेपन का संबंध ही तोड़ लिया; फलतः परिणति सबसे सिमटकर आत्मसन्मुख हो गई है, इसलिए न तो पर्याय में संयोग होता है और न संयोगी भाव ही होते हैं। यदि वे ज्ञात हो भी जावें तो उनमें सामर्थ्य नहीं है कि वे स्वज्ञेय रूप भासने लगें, इसलिए ऐसे निर्णयों से परिणति भावकर्मों से भी सिमटकर आत्मलक्ष्यी हो जाती है।

उपरोक्त प्रकार से इन्द्रियों के माध्यम से प्रवर्तनेवाला मतिज्ञान श्रुतज्ञान अन्तर्मुखी हो जाता है, लेकिन आत्मा के ही अंग ऐसे अनन्त गुण एवं उनकी समय-समय वर्तनेवाली पर्यायों की अनेकताओं के बीच मन के आलम्बन सहित ज्ञान भटकता रहता है। वही ज्ञान त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में अपनेपन के बल से अभेद होने की तीव्र रुचि एवं उत्साह से आत्मसन्मुख हो जाता है। पर्यायरूप चिद्बिंबर्तों को एक चेतन में ही संक्षेपण करके तथा गुण तो चेतन के ही विशेषण होने से विशेषण विशेष्य की निरर्थक भेद कल्पना को निर्मूल करके एक चिन्मात्र भाव में ही परिणति एकाग्र हो जाती है। विकल्पों के उत्पादक मन का संबंध छूटने से श्रुतज्ञान भी एकमात्र चैतन्य भाव में सिमटकर आ जाता है। इसप्रकार आत्मा निर्विकल्पता को प्राप्त हो जाता है। सभी आचार्यों ने उपरोक्त मार्ग से ही निर्विकल्पता प्राप्त करने का व्यपदेश किया है। प्रवचनसार की गाथा 80 की टीका के

उत्तर चरण में आचार्यश्री ने यही मार्ग बताया है। उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन को समझने से आत्मार्थी को मार्ग स्पष्ट होकर परिणति निर्विकल्पता प्राप्त करने के प्रति उत्साहवान हो जावेगी – ऐसा उत्साहवान आत्मार्थी निश्चित रूप से दर्शनमोह का नाश कर लेगा, ऐसा विश्वास जाग्रत होता है।

जिस आत्मार्थी ने सभी प्रकार के यथार्थ मार्ग समझकर त्रिकाली ज्ञायक रूप ही अपना अस्तित्व मान लिया हो, उसी में लीन होने की तीव्र रुचि तथा उत्साह वर्त रहा हो – ऐसे आत्मार्थी की परिणति सब ओर से सिमटकर अन्तर्मुखी तो हो ही जाती है; लेकिन अपने ही गुण एवं पर्याय भेदों के बीच छुपी हुई जो अभेद एकाकार ज्ञानज्योति है उसको प्राप्त नहीं कर सकी है। उस ज्ञानज्योति को प्राप्त करने का अर्थात् उन गुण-पर्याय भेदों को निरस्त (गौण) करके अभेद चिन्मात्र भाव को प्राप्त करने का मार्ग प्रवचनसार की 80 गाथा में बताया है।

इसी मार्ग का निर्देश भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अलग-अलग प्रकार से बताया है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व के नाश करने का उपाय मात्र एक ही है, ऐसा निश्चित होता है। अतः उपरोक्त मार्ग आत्मार्थी को तीव्र रुचिपूर्वक समझकर और अनुसरणकर अनन्त संसार के कारण ऐसे दर्शन मोह (मिथ्यात्व) को समूल नष्ट कर देना चाहिए तथा निर्विकल्प दशा द्वारा आत्मानुभवतापूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाना चाहिए, यही द्वादशांग का सार है।

निष्कर्ष

उपरोक्त गाथा 80 के पश्चात् आचार्यश्री ने इसीप्रकार गाथा 81 में चारित्र मोह के नाश करने का उपाय बताया है। तदुपरान्त

गाथा 82 में उक्त गाथा 80 एवं 81 की अपार महिमा की है। उस गाथा 82 की टीका निम्नप्रकार है – 'अतीत काल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान प्रकारान्तर (अन्यप्रकार) का असंभव होने से जिसमें द्वैत संभव नहीं है, ऐसे इसीप्रकार से कर्मांशों (ज्ञानावरणादि कर्मों) का क्षय स्वयं अनुभव करके (तथा) परम आप्तता के कारण भविष्यकाल में अथवा इस (वर्तमान) काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार से उसका (कर्मक्षय का) उपदेश देकर निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं; इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है, यह निश्चित होता है। अथवा अधिक प्रलाप से क्या ? मेरी मति व्यवस्थित (सुनिश्चित) हो गई है, भगवन्तों को नमस्कार हो।'

टीका से इन गाथाओं के प्रति अर्थात् गाथाओं में बताये गये मार्ग के प्रति आचार्यश्री के हृदय में उत्पन्न हुई अपार महिमा स्पष्ट प्रदर्शित होती है एवं उस मार्ग के प्रति दृढ़तापूर्वक निःशंक श्रद्धा जाग्रत होती है। आचार्यश्री ने जो निःशंक होकर घोषणा की है कि 'भूतकाल में हुए अनन्त तीर्थंकरों ने एकमात्र इसी मार्ग का उपदेश दिया था। अर्थात् द्वादशांग वाणी (दिव्यध्वनि) का सार मात्र इन दो गाथाओं में बताया मार्ग ही है। (कोई अन्य उपाय नहीं है) एवं भविष्य के अनन्तकाल में होने वाले तीर्थंकर भगवान भी यही मार्ग बतावेंगे; क्योंकि उन्होंने स्वयं भी इसी मार्ग को अपनाकर अपने कर्मों का अभाव किया है। इसप्रकार निःशंकता एवं निर्भयता के साथ घोषणा की कि अन्य कोई मार्ग है ही नहीं तथा इसमें किसी भी प्रकार से द्वैत ही संभव नहीं है, अर्थात् मात्र यह एक ही मार्ग है। आगे दोहराते हुए पुनः कहते हैं कि अन्य कोई मार्ग नहीं है। ऐसा निश्चित होता है ऐसी मेरी मति व्यवस्थित हो गई है, तात्पर्य ऐसा है कि आचार्यश्री कहते हैं

कि मैंने तो दृढ़तापूर्वक निःशंक निर्णय कर लिया है और मेरी मति व्यवस्थित हो गई है (अर्थात् किंचित् मात्र भी दुविधा नहीं रही है) इन्हीं कारणों से ऐसे सर्वोत्कृष्ट मार्ग के प्रदाता, जिनेन्द्र भगवान के प्रति आचार्यश्री के हृदय में अनन्य भक्ति उल्लसित हुई है, अतः उनको नमस्कार सहज रूप से प्रगट हुआ है कि 'भगवन्तों को नमस्कार हो।'

उपरोक्त गाथा की टीका के पढ़ने से आत्मार्थी के हृदय में भी गाथा 80 में बताये मार्ग के प्रति अपार महिमा जाग्रत होकर अकाट्य और निःशंक निर्णय हो जाता है; फलतः उसकी समस्त प्रकार की भटकनें समाप्त हो जाती हैं और गाथा 80 में बताये हुए मार्ग को अपनाकर दर्शनमोह का नाश करने के लिए तीव्र रुचि एवं उत्साह के साथ कटिबद्ध होकर (कमर कसकर) तैयार हो जाता है तथा अपनी परिणति को सब ओर से निःशंकतापूर्वक समेटकर, आत्मा में एकाग्र कर दर्शनमोह का अभाव कर देता है। इसप्रकार सहज रूप से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सरलतम एवं सर्वोत्कृष्ट व संक्षेप मार्ग गाथा 80 में बताया गया है।

ऐसे मार्ग को समझकर दृढ़तम निःशंक निर्णय करके बताये मार्ग को अपनाकर त्रिकाली ज्ञायक तत्त्व में अपनापन स्थापन कर अपनी परिणति को त्रिकालीज्ञायकभाव के आश्रयपूर्वक सब ओर से समेटकर, स्वभाव सन्मुखतापूर्वक एकाग्रकर, निर्विकल्पता प्राप्त कर लेनी चाहिए। इसी से दर्शनमोह का नाश होकर कृतकृत्य हो जावेगा।

निश्चय-व्यवहार की संधि

उपरोक्त दशा प्राप्त आत्मार्थी, स्वलक्ष्यी पुरुषार्थ में तो संलग्न होता ही है। इसी दशा की रुचि एवं परिणति की शुद्धता को निश्चय

सम्यग्दर्शन का कारण भी कहा गया है। इसको समर्थन करनेवाले निम्न आगम प्रमाण हैं –

समयसार के कलश 5 के भावार्थ में इस विषय पर श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने प्रकाश डाला है; वह निम्नप्रकार है –

"यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि जो नय है सो श्रुतप्रमाण का अंश है, इसलिए शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्षप्रमाण है; क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ के आगम के वचन से जाना है; इसलिए यह शुद्धनय सर्वद्रव्यों से भिन्न, आत्मा को सर्व पर्यायों में व्याप्त, पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप सर्व लोकालोक को जानने वाले असाधारण चैतन्य धर्म को परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से दिखाये गये पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे सो वह श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। जब तक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता।"

उपरोक्त कथन के द्वारा स्पष्ट होता है कि आत्मार्थी आगम को प्रमाण करके, उसके द्वारा दिखाये गये शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का श्रद्धान कर, अपनापन करे तो वह श्रद्धान सम्यग्दर्शन है अर्थात् सविकल्प स्वसंवेदन है।

उपरोक्त कथनों से यह भी तात्पर्य निकलता है कि देशना की चरमदशा तक परलक्ष्यी सविकल्प एवं प्रायोग्यलब्धि में भी स्वलक्ष्यी सूक्ष्म सविकल्प दशा ही रहती है तथा मिथ्यात्व का भी अभाव नहीं हुआ तो भी श्रद्धा-ज्ञान एवं चारित्र तीनों का अपने ध्रुव स्वभाव को अपना मानना, अपना जानना तथा उसी में लीन हो जाना ऐसा एक ही विषय होने से उन सबकी श्रृंखला सम्मिलित रूप से एक

आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की ओर प्रवर्तने लगती है; फलस्वरूप मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी के क्षीण होने की श्रृंखला भी उग्र हो जाती है। इसप्रकार पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य का व्यय उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य का कारण होकर बढ़ती हुई क्षीणता के द्वारा सविकल्पदशा भी निर्विकल्पता में परिणमित हो जाती है। इसी अपेक्षा से ऐसी दशा को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है। इसके समर्थन करनेवाले निम्न आगमप्रमाण भी प्राप्त हैं – परमात्मप्रकाश के अध्याय 2 की गाथा 14 की संस्कृत टीका के अंश का अक्षरशः अनुवाद इसप्रकार है

तद्यथा अर्थात् उपर्युक्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण –

'' हे जीव ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य जानो तथा इसके साधनरूप जो व्यवहार मोक्षमार्ग है, उसे साधक जानो।

यहाँ आचार्य द्वारा ही प्रश्न उठाया है कि क्या तुम जानते हो कि तुम इसे जानकर क्या बन जाओगे ? फिर आचार्य ने ही उत्तर भी दे दिया कि तुम यह जानकर परम्परा से पवित्र परमात्मा बन जाओगे।

अब व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं, वह इसप्रकार है –

'' वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत षट्द्रव्य आदि का सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान, व्रत आदि अनुष्ठान व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा निज शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान व अनुष्ठान निश्चय मोक्षमार्ग है।

अथवा साधक भाव व्यवहार मोक्षमार्ग है और साध्यभाव निश्चय मोक्षमार्ग है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि जब निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है तो उसी समय सविकल्प मोक्षमार्ग तो नहीं है; फिर वह व्यवहार

मोक्षमार्ग निश्चय का साधक कैसे हो जायेगा ?

इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि भूतनैगमनय से वह परम्परा कारण बनता है अथवा सविकल्प-निर्विकल्प के भेद से निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकार का है – वहाँ 'मैं अनन्त ज्ञान स्वरूप हूँ इत्यादि' तो सविकल्प साधक होता है तथा निर्विकल्प समाधि रूप साध्यभाव होता है। यही इसका तात्पर्य है।"

उपरोक्त आगम कथन से भी यही प्रमाणित होता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पूर्व, सर्वज्ञ प्रणीत आगम के द्वारा अपने स्वरूप के यथार्थ निर्णय के साथ-साथ वर्तनेवाली रुचि एवं परिणति की शुद्धता को ही भूतनैगमनय से साधक कहा है तथा उसी को निश्चय का कारण भी कहा है। इसके अतिरिक्त आचार्यकल्प पं॰ टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में, बड़े नयचक्र ग्रन्थ की गाथा 266 को उद्धरण देते हुए कहा है उसमें भी इसी का समर्थन मिलता है, उसका अनुवाद निम्न है –

" तत्त्व के अन्वेषण, अवलोकन का जो काल उस समय शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने पश्चात् आराधना के समय जो अनुभव काल उसमें नय-प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है।"

इसप्रकार स्पष्ट है कि प्रायोग्यलब्धि एवं करणलब्धि में यथार्थ निर्णय के पृष्ठ बलपूर्वक, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई रुचि-श्रद्धा (मिथ्यात्व की क्षीणता) की उग्रता एवं परिणति-चारित्र (अनंतानुबंधी की क्षीणता) की क्रमशः बढ़ती हुई शुद्धता ही कारण होती है अर्थात इसप्रकार का आत्मा का परिणमन होना ही पुरुषार्थ है। अन्य किसीप्रकार का पुरुषार्थ कारण नहीं बनता। ज्ञायक में अपनेपन की

प्रगाढ़ता क्रमशः बढ़ती जाना और पर में अपनेपन की मान्यता का क्रमशः क्षीण होते जाना तदनुसार ही वृत्ति (उपयोग सहित) पर की ओर से सिमटकर ज्ञायक में एकाग्र होने के लिए क्रमशः बढ़ते जाना ही निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त करा देती है। ऐसी अनुभूति अकर्तृत्व के पृष्ठबल द्वारा सहजरूप से प्राप्त कर लेना ही द्वादशांग का सार है।

प्रायोग्यलब्धि में पुरुषार्थ

पुरुषार्थ का प्रकार

प्रश्न :– यह तो स्पष्ट हो गया कि रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता के साथ, अपने स्वरूप के संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथार्थ निर्णय को कार्यरूप परिणमन कराने में रुचि एवं परिणति का पृष्ठबल ही आत्मानुभव कराने का मुख्य कारण है, लेकिन इस स्थिति तक भी ज्ञान तो परलक्ष्यी ही कार्य करता रहता है और परलक्ष्यी ज्ञान में आत्मानुभव होना संभव नहीं है, अतः उक्त ज्ञान स्वलक्ष्यी होकर कार्य करने लगे इसके लिए पुरुषार्थ किसप्रकार वर्तता है ?

उत्तर :– जिसप्रकार विवाह के इच्छुक व्यक्ति के सगाई होने के पूर्व ही रुचि के पृष्ठबल सहित अनेक बालिकाओं के आकर्षण समाप्त होकर मात्र एक बालिका में सीमित हो जाते हैं और ज्ञान की भी खोजने की व्यस्तता समाप्त हो जाती है। तत्क्षण ही अनेक बालिकाओं में भटकता हुआ ज्ञान भी सिमटकर उस एक ही बालिका में सीमित हो जाता है। उसीप्रकार आत्मार्थी भी आत्मस्वरूप समझकर निर्णय करने में क्रमशः बढ़ती हुई रुचि की उग्रता एवं परिणति की विशुद्धतापूर्वक, आगम-अभ्यास, सत्समागम, चिन्तन-मनन आदि कार्यों

में संलग्न रहता था, ज्ञान-प्रमाण नय आदि तथा तर्क युक्तियों द्वारा निर्णय करने के लिए निरन्तर व्यग्र रहता था, वही यथार्थ निर्णय कर लेने पर अपने आत्मस्वरूप में सिमट जाता है; खोजने की व्यग्रता समाप्त होकर वृत्ति आत्मसन्मुख हो जाती है तथा श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र तीनों का विषय एक हो जाता है। उपरोक्त स्थिति तो देशनालब्धि की चरमदशा की द्योतक है। इस स्थिति प्राप्त आत्मार्थी की क्रमशः बढ़ती हुई रुचि की एवं परिणति की विशुद्धता (गर्भित शुद्धता) जो कि क्षयोपशमलब्धि के काल से ही धारावाहिक रूप से बढ़ती आ रही थी और विषय भी एक ही था, लेकिन फिर भी ज्ञान तो स्वरूप को ढूँढने समझने के लिए भटकता रहता था, अब उसका भी विषय रुचि एवं परिणति के विषय के साथ होकर तीनों का विषय एक ही हो जाता है। अतः इस स्थिति के पश्चात् अर्थात् प्रायोग्यलब्धि के काल में तो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तीनों आत्मस्वरूप प्राप्त करने में संलग्न हो जाते हैं। अतः तीनों की एकता होने से यहाँ से पुरुषार्थ का प्रकार ही बदल जाता है, देशनालब्धि तक तो ज्ञान परलक्ष्यी होकर कार्यरत था। जिसप्रकार विवाह इच्छुक पुरुष का ज्ञान, सगाई होने तक तो अनेक कन्याओं में भटकता था लेकिन सगाई होते ही रुचि एवं परिणति के साथ ज्ञान भी उस एक ही कंन्या में मर्यादित हो जाते हैं। अब तो उसका ज्ञान उस ही कन्या की विशेषताओं को खोजकर विकसित करने के उपायों सहित शीघ्र सम्मिलन प्राप्त करने के लिए आतुरित हो जाता है। इस स्थिति में अन्य विचार आ भी जावे तो उनकी ओर से अपने को व्यावृत्य कर लेने की ही चेष्टा करता है; उस ओर की अरुचि वर्तती है। इसप्रकार तीनों की एकता होकर वर्तती हुई प्रवृत्ति

ही, विवाह होकर सम्मिलन करने का कारण बनती है।

इसीप्रकार जिस आत्मार्थी ने देशना की चरमदशा पर पहुँचकर, श्रद्धा (रुचि) ज्ञान एवं चारित्र (परिणति) का विषय एक मात्र अपना त्रिकालीज्ञायकध्रुवतत्त्व बना लिया है अर्थात् एकत्व करने योग्य बना लिया है; ऐसे आत्मार्थी का ज्ञान भी संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित होकर सब ओर से सिमटकर, निर्णय के ही विषय को स्व के रूप में वरण करने योग्य मान लेने से, रुचि की उग्रता और भी तीव्र हो जाती है; साथ ही चारित्र भी निःशंक होकर, अपने स्वरूप में ही तन्मय होने के लिए चेष्टित हो जाता है। ऐसी दशा का प्रारम्भ होना ही वास्तव में प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश है। ज्ञान के यथार्थ निर्णय पर पहुँचने के पूर्व, श्रद्धा (रुचि) एवं चारित्र (परिणति) ने भी, अपने ध्रुव स्वभाव को विषय बनाया था, लेकिन उसमें निःशंकता नहीं वर्तने के कारण, श्रद्धा एवं चारित्र भी सफलता को प्राप्त नहीं होते थे। लेकिन ज्ञान के द्वारा, जब संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित, अपने स्वरूप का यथार्थ निर्णय हुआ तो उस निर्णय ने श्रद्धा को भी स्वरूप के प्रति निःशंकता प्राप्त करा दी फलस्वरूप चारित्र का भी उसी में जमने-रमने के लिए उत्साह तीव्र हो जाता है। इसप्रकार आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान एवं चारित्र तीनों एकरूप होकर, एकमात्र अपने स्वरूप प्राप्त करने के लिए स्वलक्ष्यी पुरुषार्थ में ही संलग्न हो जाते हैं। ऐसी दशा तक भी मिथ्यात्व का अभाव तो नहीं होता लेकिन मिथ्यात्व क्षीण हो जाने से यह जीव वास्तव में सम्यक्त्वसन्मुख हो जाता है। इस दशा को व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग भी कहा है।

समापन

सुखी होने का उपाय भाग – 8 के समापन के साथ-साथ यह इस पुस्तकमाला का भी समापन है। सबसे पहले मुझे सन् 1942 में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का समागम प्राप्त हुआ, उनके परम कल्याणकारी उपदेशों से ही मुझे सन्मार्ग भी मिला एवं यथार्थ दृष्टि प्राप्त हुई। फलस्वरूप मार्ग समझने एवं प्रचार की तीव्र भावना जाग्रत हुई। प्रयत्न करके सोनगढ़ स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट से पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का हिन्दी भाषा में प्रकाशन प्रारम्भ कराया। मैंने अपने परिवार की ओर से पाटनी जैन ग्रन्थमाला की स्थापना कर, स्वयं का छापाखाना लगाकर जैन साहित्य का प्रकाशन कराया तथा लगभग 19 पुस्तकें प्रकाशित कीं और सोनगढ़ रहकर पूज्य स्वामीजी का समागम भी प्राप्त करता रहा।

बहुत समय से मेरे हृदय में भावना जाग्रत हुई कि मोक्षमार्ग का प्रारम्भ तो सम्यग्दर्शन से होता है; अतः सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय बताने वाले साहित्य की सर्वोत्कृष्ट आवश्यकता है, इसी भावना के फलस्वरूप तथा अपने कल्याण के लिए चिन्तन-मनन का उत्कृष्ट साधन समझकर मैंने सन् 1987 में सुखी होने का उपाय नाम की लेखमाला प्रारम्भ की। उक्त रचना से मैंने अनुभव किया कि विषय पर लिखने के पूर्व जिनवाणी का गहन अध्ययन एवं विषय पर गहन चिन्तन बहुत हो जाता है जो कि पढ़ने-सुनने में नहीं होता। ऐसे अनुभव से प्रेरित होकर मैंने मेरे स्वयं के कल्याण की दृष्टि से ऐसा निर्णय किया है कि उक्त विषय को विस्तार एवं विश्लेषण पूर्वक लिखने का कार्य चालू रखा जावे, फलस्वरूप सुखी होने का उपाय लेखमाला ने पुस्तकमाला का रूप धारण कर लिया; जिसके भाग – 8 का यह समापन है।

मुझे प्रसन्नता है कि जिस उद्देश्य से इस पुस्तकमाला का प्रारम्भ हुआ था, सफलता के साथ पूर्ण भी हो रहा है। चतुर्थ गुणस्थान अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेना ही जीवन की सफलता है उससे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता

है। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का संक्षिप्त एवं सत्यार्थ मार्ग बताने के साथ-साथ ज्ञानी की अन्तर एवं बाह्य परिणति को समझने के उद्देश्य से इस पुस्तकमाला का जन्म हुआ था। तदनुसार अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिए क्षयोपशमलब्धि से प्रारम्भ होकर देशनालब्धि तक बहिर्लक्ष्यी ज्ञान में पाँच समवाय युक्त किसप्रकार का पुरुषार्थ होने से सत्यार्थ निर्णय होता है तथा अपने ध्रुव ज्ञायक भाव में किसप्रकार आत्मपना स्थापन किया जा सकता है। इन विषयों पर विस्तार से चर्चा इन भागों में हुई है। यथार्थ निर्णय के साथ-साथ रुचि की तारतम्यता पूर्वक उग्रता एवं परिणति में अनंतानुबंधी की क्षीणता द्वारा क्रमशः बढ़ती हुई विशुद्धता (गर्भित शुद्धता), इनकी अनिवार्यता पर भी चर्चा आ गई है।

उपरोक्त रुचि-परिणति सहित सत्यार्थ निर्णय होने पर भी अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ के बिना प्रायोग्य एवं करणलब्धि में प्रवेश नहीं होता। अतः अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ पर भी चर्चा हुई है। अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ में तो रुचि की उग्रता एवं परिणति की क्रमशः बढ़ती हुई शुद्धता से ही सफलता प्राप्त होती है, मात्र ज्ञान के निर्णय से नहीं। सत्यार्थ पुरुषार्थ करने पर भी किसप्रकार की भूल कहाँ हो जाना संभव हो सकता है, जिससे आत्मार्थी मार्ग से च्युत हो सकता है, इस विषय पर प्रसंगोपात्त चर्चा की गई है। अंत में निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त होने पर का उपाय शब्दों द्वारा कथन करना अशक्य है, लेकिन उसको भी सत्यार्थ अनुमान द्वारा समझने की चेष्टा की गई है। इसप्रकार मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तकमाला अपने विषय को स्पष्ट करने में पूर्ण सफल हुई है। मेरे लिए इस मार्ग के प्रदाता प्रातः स्मरणीय स्व. पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी हैं। उन्हीं की पावन कृपा से मुझे यह मार्ग प्राप्त हुआ एवं उन्हीं की प्रदान की हुई दृष्टि से मुझे इसमें सफलता प्राप्त हुई। उनका उपकार यह आत्मा कभी भी नहीं भूल सकता।

प्रस्तुत पुस्तकमाला के छठवें भाग की रचना के समय विषय की

गंभीरता एवं सूक्ष्मता के अनुभव से मुझे विचार आया कि पुस्तकमाला की रचना में अगर कोई विपरीत कथन हो जावे तो मिथ्यामार्ग का पोषक हो सकता है। फलतः परम आदरणीय डॉक्टर श्री पण्डित हुकमचन्दजी भारिल्ल से मैंने निवेदन किया कि वे इस रचना की भाषा आदि को गौण करते हुये आगम के आलोक में पढ़कर कोई भूल हो तो मुझे बता दें तो मेरी स्वयं की परिणति के लिए बहुत लाभ होगा एवं रचना में भी प्रामाणिकता आ जावेगी। मुझे अतीव प्रसन्नता है कि उन्होंने सहर्ष अनुमति प्रदान कर, इस पुस्तकमाला के सातवें और आठवें भाग तो प्रकाशन के पूर्व ही एवं तीसरा एवं चतुर्थ भाग पुनर्मुद्रण के पूर्व आद्योपान्त पढ़कर अनेक भूलों एवं विसंगतियों के संबंध में चर्चा करके मेरे ज्ञान को एवं चारों भागों को प्रमाणित किया। इसके लिए मैं उनका बहुत-बहुत आभारी हूँ। उपरोक्त चर्चा के द्वारा प्राप्त स्पष्टीकरण द्वारा मेरी सब शंकाओं का समाधान हो जाने से, मार्ग में निःशंकता प्राप्त हो गई। फलतः बाकी रहे पहला-दूसरा एवं पाँचवां एवं छठवाँ भाग उनके स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण वे तो नहीं देख सके, लेकिन मार्ग स्पष्ट हो जाने पर मैंने स्वयं ही संशोधन कर पुनर्मुद्रण कराया है। इसप्रकार मुझे विश्वास है कि इस पुस्तकमाला के सभी भाग प्रामाणिक होने से निःशंकतापूर्वक स्वीकार करने योग्य हैं।

इसलिए आत्मार्थी बन्धु पूर्ण श्रद्धा के साथ पुस्तकमाला का अध्ययन और मनन कर सत्यार्थ मार्ग अपनावें एवं रुचि एवं परिणति की विशुद्धता के पृष्ठबल द्वारा अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ अपनाकर निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट करके अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का स्वाद चखकर कृतकृत्य होवें। इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।